लेड़लाड़

श्री विनोद शर्मा

Nasib Singh Manhas
Vill. Marchangi
P.O. Khour
Teh. Akhnoor
Jammu

छेड़छाड़

(व्यंग्य कविताओं का एक लघु संग्रह)

"केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा एवं समाज कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार की ओर से भेंट"

प्रकाशक
इंडियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

प्रकाशक :
बी० पी० श्रीवास्तव
इण्डियन प्रेस (पब्लिकेशंस) प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद

मूल्य : ७·५० रुपये
प्रथम संस्करण, फरवरी, १९७४

मुद्रक :
पी० एल० यादव
इंडियन प्रेस प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद

समर्पण

इस पुस्तक में आये हुए सब

पात्रों, सुपात्रों और कुपात्रों को

(मय अपने के)

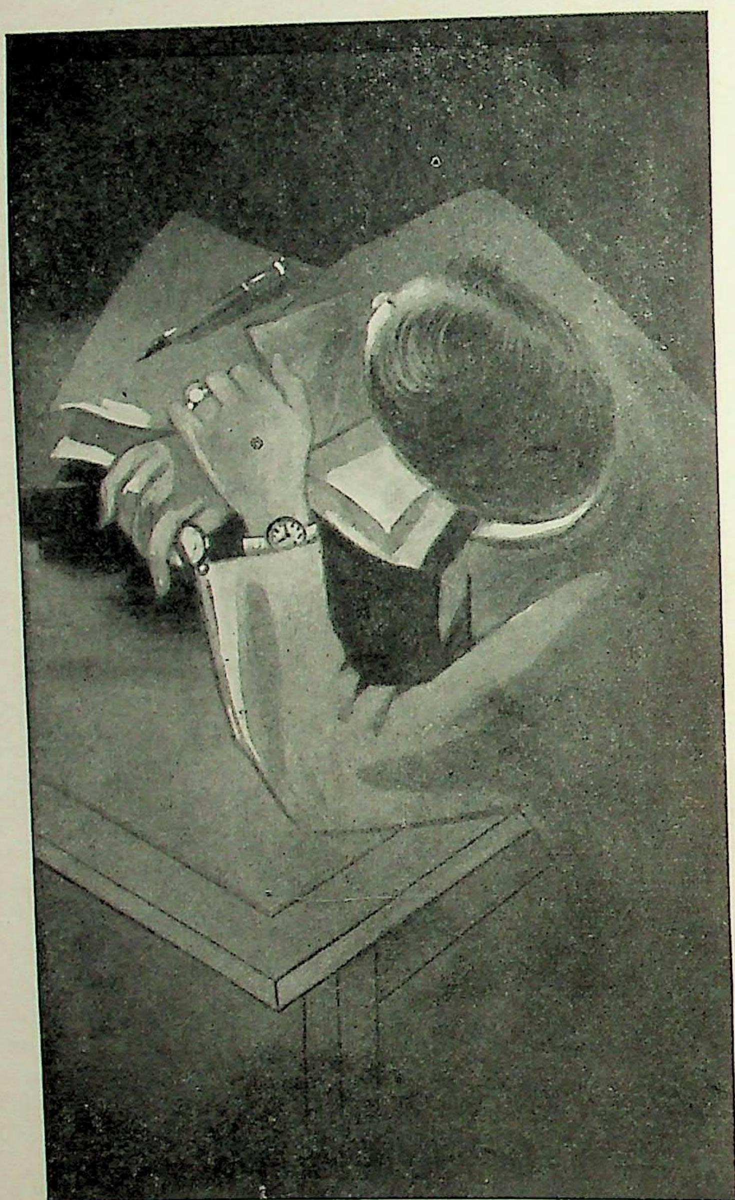
यह पुस्तक

समर्पित

है।

सूची

———



लेखक

(जिस दृष्टिकोण से आकाश से देवतागण या बमवर्षक के चालक उसे देखते हैं।)

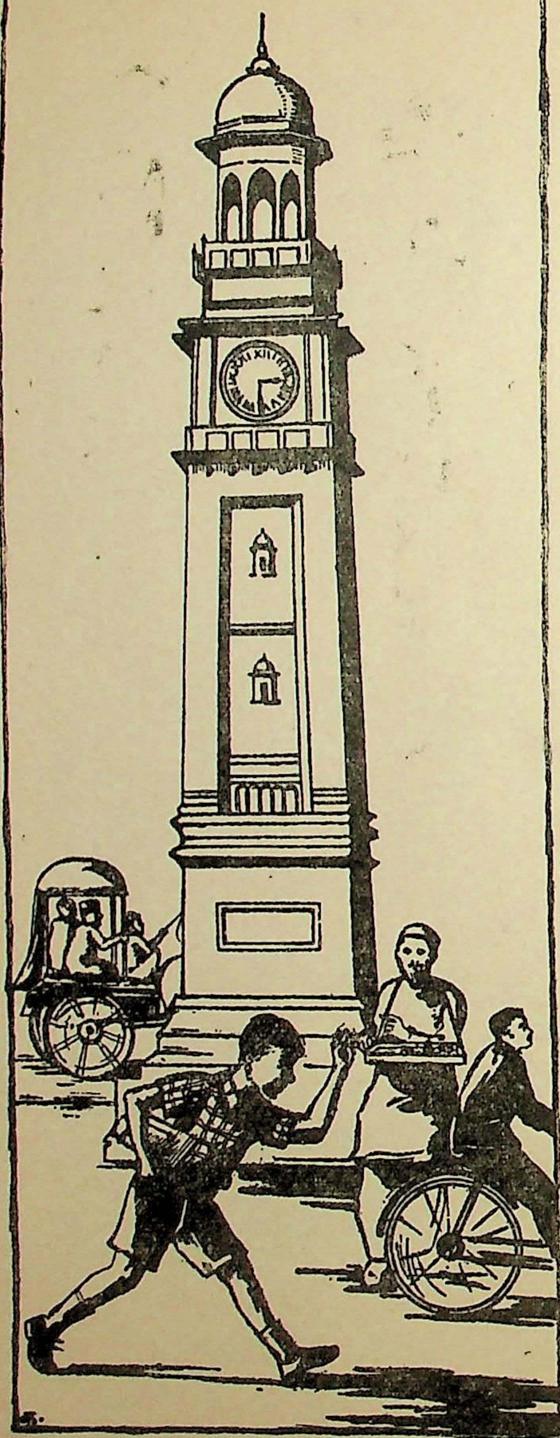
भूमिका

ऐ पढ़नेवाले !

सावधान !
इस तरकस में हैं व्यंग्य-वान !
इसमें साहित्यिक छेड़-छाड़,
इसमें साहित्यिक चीर-फाड़,
पर, हिंसा का है नहीं लेश,
क्यों हो विनोद में राग-द्वेष ?
तू तर्क मान, चाहे न मान,
अज्ञान समझ, या समझ ज्ञान,
पर पढ़कर हँस, औ' लूट मोद,
यह कहता

सविनय

श्रीविनोद



य० पी० में एक प्रयाग नगर
उसके बजार में घंटाघर।

द्वितीय संस्करण की भूमिका

हिन्दी में हास्य और व्यंग्य की परम्परा वैसे तो बहुत पुरानी है, किंतु इस देश के पुराने लेखकों और कवियों की प्रकृति गंभीर होने के कारण हास्य और व्यंग्य की रचनाएँ बहुत कम लिखी गयीं। सूरदास के "सुनहु कान्ह ! बलभद्र चबाई, जनमति ही कौ धूत" या तुलसीदास को "विन्ध्य के वासी उदासी महा तपधारी सबै बिन नारि दुखारे" आदि पंक्तियाँ जहाँ-तहाँ हास्य या व्यंग्य के जुगनुओं की तरह चमक जाती हैं, और उत्तर-रीतिकालीन कवियों के "भड़ौए" भी यदा कदा दिखलायी पड़ जाते हैं, किन्तु यह कहना बहुत गलत न होगा कि हिंदी में हास्य और व्यंग्य की कमी रही है, कारण कुछ भी हो।

हरिश्चन्द्र-युग में हिंदी ने आधुनिक युग के अनुसार चलने का निश्चय किया, और जब उसके कवि और लेखक, आलोचक की दृष्टि से अपने समाज और वातावरण की गतिविधियों को देखने लगे, तब उन्होंने आधुनिक ढंग का व्यंग्य भी लिखना आरंभ किया। स्वयं हरिश्चन्द्र ने कई जगह व्यंग्य का उपयोग किया। प्रतापनारायण मिश्र में व्यंग्य की प्रतिभा अधिक प्रस्फुटित हुई। उनका "तृप्यन्ताम्" प्रसिद्ध है। फिर तो बालमुकुंद गुप्त आदि ने इसका सहारा गद्य और पद्य दोनों में लिया।

हास्य—विशुद्ध हास्य—लिखना अत्यन्त कठिन है। वह विचित्र या हास्यास्पद परिस्थिति पर निर्भर है। एक विद्वान् ने हास्यास्पद (रिडिक्युलस) की परिभाषा देते हुए कहा है कि जो वस्तु काल और स्थान से च्युत मालूम होती हो, वह हास्यास्पद है। (A thing which is out of place and out of time is ridiculous.) हम पृथ्वी पर खड़े होकर, और पानी पर लेटकर चलते हैं। यदि कोई व्यक्ति सड़क पर लेटकर, तैरकर चलने का उपक्रम करने लगे तो लोग हँसने लगेंगे क्योंकि यह कार्य स्थान के अनुकूल नहीं है। बहुत दिन हुए एक बार हमारे एक उर्दूदां पड़ोसी ने अपने पिता की तेरही का निमंत्रण हिंदी में भेजा था। वे हिन्दी नहीं जानते थे, और यह भी नहीं जानते थे कि हिंदी में निमंत्रण पत्र कैसे लिखा जाता है। उन्होंने किसी आये हुए विवाह के पुराने निमंत्रण के सिरनामे को हिंदी के निमंत्रणों के सिरनामों का आदर्श समझा। एक

कागज पर उसे लिखकर, और उसमें घटना का परिवर्तन करके, उसे नाई द्वारा मोहल्ले के ब्यौहारियों में घुमवा दिया। उसका आरंभ था, "परम-पिता परमात्मा के असीम अनुग्रह से मेरे पिताजी का स्वर्गवास हो गया है। अमुक तिथि को उनकी तेरही है। इस शुभ अवसर पर पधार कर मुझे अनुग्रहीत करें।" "परमपिता का अनुग्रह" या "शुभ अवसर" अपने आप में तनिक भी हास्यास्पद नहीं हैं, किंतु उन्हें जिस अवसर पर प्रयुक्त किया गया वह अनुपयुक्त था, और इसीलिए उसने हास्यास्पद स्थिति उत्पन्न कर दी। हास्य वह है जिसकी 'हास्यास्पदता' उस व्यक्ति की भी समझ में आ जाय जिसके हास्यास्पद कार्य से लोग हँस पड़े हों, तथा उस स्थिति को समझने के बाद वह भी हँस पड़े, कम से कम मुसकरा तो देवे ही। इसी लिए विशुद्ध हास्य लिखना बड़ा कठिन है। ऐसी रचना जो हास्य हो, और वह भी शिष्ट हास्य हो, दशहरे के नीलकंठ की तरह कभी-कभी ही देखने में आती है। हम लोग तो अधिकतर व्यंग्य को ही हास्य समझ कर संतोष कर लेते हैं।

व्यंग्य लिखना अपेक्षाकृत सरल है। इसका मुख्य उद्देश्य तर्क के बल से नहीं, किंतु हास्यास्पद बनाकर आलोचित वस्तु या बात का खंडन करना है। उसे हास्यास्पद बनाकर उसके प्रभाव को नष्ट करना ही व्यंग्य का मुख्य उद्देश्य है। जो काम बड़े विद्वतापूर्ण तर्कों से पूरी सफलता से नहीं हो सकता, वह कभी-कभी एक करारे व्यंग्य से सरलता से हो जाता है। जिस प्रकार हास्य में अशिष्ट या अश्लील हो जाने का खतरा है, उसी प्रकार व्यंग्य में भी बड़ा खतरा व्यक्तिगत आघात हो जाने का रहता है। लोग विरोधी के तर्कों से परास्त होने पर प्रायः बुरा नहीं मानते, किंतु जब उनकी किसी बात को व्यंग्यबाण द्वारा हास्यास्पद बना दिया जाता है तो उनका अहम् तिल-मिला उठता है। कोई भी व्यक्ति जनता की निगाह में हास्यास्पद नहीं बनना चाहता। इसलिए व्यंग्य करते हुए भी उसे व्यक्तिगत तल से ऊपर रखकर उसे अवैयक्तिक बनाना वास्तव में बड़ा कठिन है, क्योंकि व्यक्ति और उसके कार्यों या विचारों में बड़ा ही सूक्ष्म अंतर होता है। साधारण जन के लिए बहुधा दोनों में अंतर करना कठिन हो जाता है। लेखक यह नहीं जान पाता कि सद्भावना से किया हुआ अवैयक्तिक व्यंग्य भी किसे और कब बुरा लग जायगा।

जो भी हो, विद्वान न होने के कारण मुझे जब किसी विद्वान की बात या कार्य की आलोचना करने की इच्छा होती है तब व्यंग्य ही सरल मालूम होता है। किसी विद्वान की किसी बात या मत की तर्कपूर्ण और

शास्त्रीय आलोचना करने के लिए गहन पांडित्य चाहिये । वह अपने पास है नहीं। इसलिए अपनी सहजबुद्धि की कसौटी पर उसकी खराबियों को कस कर उसको व्यंग्य द्वारा व्यक्त करना ही सरल मालूम पड़ता है । अंग्रेजी में एक लैटिन वाक्यांश "Reductio ad absurdum" 'हास्यास्पद बनाकर छोड़ देना' । व्यंग्य का, मोटे रूप से, यही उद्देश्य होता है ।

साहित्यिक न होने पर भी मैं "विधिवश" साहित्यिकों के सम्पर्क (या तुलसीदासजी के शब्दों में "कुसंगति") में आ पड़ा। मेरे परिचित सज्जन विद्वान् और पेशेवर साहित्यिक रहे हैं, और मैं उनके बीच में नौसिखिया और "शौकिया" (ऐमेच्योर) लगता हूँ। अतएव उनके बीच अपना स्थान बनाने के लिए मुझे विद्योपार्जन के श्रम की अपेक्षा व्यंग्य के चौबे-सुलभ गुण का अवलम्बन सहज मालूम हुआ । और मैं जब तब व्यंग्य लिखने लगा ।

व्यंग्य लिखते समय मैं इस बात का ध्यान रखता रहा हूँ कि जहाँ तक हो विचारों, मतों और कार्यों ही की आलोचना की जाय, व्यक्तित्व की नहीं । मैं जानता हूँ कि इसमें सफलता मिलना सिद्धहस्त लेखकों को भी कठिन है, फिर मेरे ऐसे शौकिया लेखक से यदि स्थान-स्थान पर "च्युति" हो गयी हो तो क्या आश्चर्य !

इसीलिए मैंने अपनी व्यंग्य कविताएँ कभी प्रकाशित नहीं कीं। मुझे भय था कि उनके सार्वजनिक प्रकाशन से कहीं मेरे कोई साहित्यिक मित्र अप्रसन्न न हो जायँ। मैं उन कविताओं को अपनी मित्रमंडली में सुनाकर ही संतुष्ट हो जाता था । किन्तु जब मेरे बहुत से मित्रों ने उन्हें छपवाने का अनुरोध किया, और उनका संग्रह अपने पास रखने के लिए माँगा, तब मैंने चुनकर थोड़ी सी कविताएँ अपने व्यय से छपवा दीं, किन्तु केवल मित्रों के लिए। इस संग्रह का नाम "छेड़छाड़" रखा, और चूँकि मित्रों की संख्या बहुत बड़ी नहीं थी, उसकी केवल १५० प्रतियाँ छपवायी गयीं। यह बात १९३८ की है।

इस पुस्तक की प्रतियाँ मैंने अपने बहुत से मित्रों को भेंट कीं, विशेष-कर उनको जिनकी चर्चा पुस्तक में थी। कई लोगों को कविता ही में समर्पण लिखा गया। उदाहरण के लिए कुछ समर्पण के नमूने यहाँ दे रहा हूँ

पं० अमरनाथ झा मेरे सहपाठी और स्कूली मित्र थे। उनको जो प्रति भेंट की उस पर यह लिखा था :

"शिव हिन्दी साहित्य का किया जोकि शृंगार—
व्यंग्य व्याल की माल से, सो प्रेषित उपहार।

"छेड़छाड़" में पं० बनारसीदास चतुर्वेदी पर दो व्यंग्यपूर्ण कविताएँ थीं। उनको जो पुस्तक भेंट की गयी, उस पर यह लिखा गया—

"छेड़छाड़ की बानि है, छेड़छाड़ कुल धर्म,
तुमहूँ चौबे बंश में, समझहुगे यह मर्म।
समझहुगे यह मर्म, शर्म कछु मोकों नाहीं;
चारि दिना हँसि बोलि क्यों न हम समय बिताहीं?
यासों, हंसी कराइ कें राखि लेहु कुल कानि,
छाँड़ि न दीजो भूलि कें, छेड़छाड़ की बानि।

डा० बाबूराम सक्सेना पर भी "छेड़छाड़" में दो कविताएँ हैं। गंभीर विद्वान् होते हुए भी उन्होंने उन कविताओं के व्यंग्यों से आनंद लिया और बुरा नहीं माना। यह मेरा सौभाग्य ही है। उन्हें जो प्रति भेंट की गयी, उस पर यह लिखा था—

मृग कों निहारि सामुहैं जो वनस्थली में
सिंह बानि भक्ष्य पैं झपटिबे की छोड़ि देय;
लाख औ करोड़ कलदारन के होत हू जो
सूम लोभ रुपया के जोड़न को छोड़ देय;
छोड़ देय अग्नि जो तपैबो को धर्म निज,
चन्द्र बिरहीन कौ सतैबो हू छोड़ देय;
एते छोड़ैं धर्म जो निसर्गजात आपुनें, तौ
चौबे हू बानि ठट्ठा करिबे की छोड़ि देय!

और भी कितने ही मित्रों की प्रतियों में इस प्रकार की तुकबंदियाँ लिख दी थीं। इतने नमूने पर्याप्त हैं।

उन दिनों पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी टीकमगढ़ में रहते थे। एक दिन ओरछा नरेश महाराज वीरसिंहजू देव उनसे मिलने आये। वहाँ उन्होंने "छेड़छाड़" की प्रति रखी देखी। उसे पढ़ने लगे। उन्हें वह इतनी पसन्द आयी कि वे उसे ले गये और चतुर्वेदीजी से कह गये कि यह तभी आपको वापस मिलेगी जब आप मेरे लिए इसकी एक प्रति मँगा देंगे। उन्होंने हमें पत्र लिखा। हमाने महाराज को एक प्रति चतुर्वेदीजी के द्वारा भेज दी, और समर्पण में यह छंद लिखा :

छं:

हिन्दी शिवकाव्य को शृँगार व्यंग व्यालन सों,
रचि-रचि श्रीविनोद रुचि सों बनायो है ।
ओरछा के बरछा समान वाक्य बातन सों
छेड़छाड़ रूपी जो तुनीर ये सजायो है ।
आसा करि मोद पैहैं भूप वीरसिंह देव,
'हँसिबे हो जोग' जानि, मन पतियायौ है ।
जामें उर शेष, ऐसे उरछेशजू के कर-
कंज में बिनीत उपहार ये पठायौ है ।

मित्रों में "छेड़छाड़" की बहुत दिनों चर्चा रही । सीमित प्रतियाँ होने के कारण वे सब शीघ्र बँट गयीं । अब तो मेरे पास भी केवल एक दो प्रतियाँ रह गयी हैं जिन्हें मैं बड़ी कठिनता से बचा सका हूँ ।

मुझसे मेरे कितने ही मित्र इसका द्वितीय संस्करण करने का बहुत दिनों से अनुरोध कर रहे थे । सेवानिवृत्त हो जाने के कारण अब मैं इसे अपने व्यय से छपाने की "दिमागी ऐयाशी" नहीं कर सकता । तब लोगों ने इसका सार्वजनिक संस्करण निकालने का आग्रह किया । कई मित्र कई वर्षों से तकाजा कर रहे थे । इनमें पं० बनारसीदासजी तो प्रायः जब मिलते हैं तब उसे शीघ्र प्रकाशित कर देने का आदेश देते हैं, पत्रों में बार-बार तकाजा करते रहते हैं । अतएव मैंने इसका दूसरा संस्करण करना ही ठीक समझा ।

इस संस्करण में मैंने इसका कलेवर कुछ बढ़ाने तथा इसमें कुछ विशेषता लाने के लिए आधी दर्जन कविताएँ और जोड़ दी हैं ।

व्यंग्य लिखना मैं अपनी कमजोरी और मूर्खता समझता हूँ । अभी तक मेरी मूर्खता केवल मित्रमंडली तक सीमित थी, किन्तु अब "छेड़छाड़" के इस सार्वजनिक संस्करण द्वारा वह "जगजाहिर" हो जायगी । भावी को कौन रोक सकता है !

—श्रीविनोद शर्मा

६ सितंबर, १९६३

घंटाघर

प्रयाग से 'विश्ववाणी' नाम की एक मासिक पत्रिका श्री सुन्दरलाल जी के संरक्षकत्व में निकलती है। इसका एक मुख्य उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम मेल भी है। भला कौन समझदार व्यक्ति होगा जो इस उद्देश्य से सहमत न हो ? किन्तु उसके लिए राष्ट्र को क्या और कहाँ तक बलिदान करना चाहिए—यह विवादग्रस्त है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विश्ववाणी' किसी सीमा तक जाने को तैयार है, इसका पता उसके इतिहास-सम्बन्धी एक लेख से मिलता है। यह लेख पूना के प्रसिद्ध विद्वान् रावबहादुर गोविन्द सखाराम सरदेसाईजी का लिखा हुआ है और 'विश्ववाणी' की फ़रवरी सन् १९४१ की संख्या में छपा है। इसमें वे कहते हैं—"इतिहास कोई अमिट पत्थर की लकीर नहीं है। इतिहास समय-समय पर बदलता रहता है और अपने को नई परिस्थितियों के अनुकूल बनाता रहता है। एक प्रमुख दार्शनिक ने इतिहास के कर्त्तव्य पर लिखा है; इतिहास को समय-समय पर नये रूप रंग में पेश करने की आवश्यकता होती है, इसलिए नहीं कि कुछ नई खोजों का पता चलता है, बल्कि इसलिए कि दुनिया के हरदौर में जो लोग शरीक होते हैं उनके अपने दृष्टिकोण और अपनी आवश्यकतायें होती हैं और इतिहास का फ़र्ज है कि वह उस दृष्टिकोण का समर्थन करे और उनकी आवश्यकताओं को पूरा करे। इस दृष्टिकोण से बीती हुई घटनाओं की जांच-पड़ताल जरूरी है।" यदि यह बात मान ली जाय तो इतिहास में सत्य-असत्य का प्रश्न ही न रह जायगा। लेखक जिस दृष्टिकोण का समर्थन करना चाहेगा उसी के अनुसार वह इतिहास को तोड़-मरोड़ लेगा। सत्य तो परिवर्तनशील

नहीं है। वह सदैव एक-सा रहेगा। अग्नि की दाहकता आज भी सत्य है, सदा से थी और सदा रहेगी। जो घटनाएँ हो गई हैं, वे बदल नहीं सकतीं उनका रूप बदल नहीं सकता। किन्तु असत्य में यह खूबी अवश्य है कि वह बहुरूपिए की तरह रूप बदलता रहता है। यदि 'विश्ववाणी' की सम्मति के अनुसार भारत का इतिहास विशेष दृष्टिकोण और समय की आवश्यकता के अनुसार लिखा जाय तो कैसा हो सकता है, इसका नमूना आगे दिया जाता है

(१)

यू० पी० में एक प्रयाग नगर
उसके बज़ार में घंटाघर।
घंटाघर में है धरम-घड़ी
मीनार विशद पर रहे खड़ी।
वह गति-मुग्धा, वह प्रगतिशील
प्रतिपल वह आगे चले बढ़ी।
लड़कों से कहती 'बजे तीन
अब बजे चैन की मधुर बीन।'
दफ़्तरवालों से कहे 'पाँच!
कागज-फाइल में लगे आँच!'
सिनेमा-प्रेमी से कहे 'चलो,
साढ़े छै बजते होता शो।'
सारांश, अथक गति से चलती
बातें सब अलग-अलग कहती।
यह घड़ी न है पत्थर लकीर
जो अमिट, अचल औ शान्त धीर।
वह पल-पल जगह बदलती है,
प्रतिक्षण कुछ नूतन कहती है।

(२)

इतिहास एक है घंटाघर,
जो समय-सदृश ही है अस्थिर।
वह यों ही रूप पलटता है,
ज्यों गिरगिट रंग बदलता है।
वह राजनीति का साधन है
उस पर उसका अनुशासन है।
जब चाहो उसे बदल डालो,
सत असत, असत सत कर डालो।
अल्लामा सुन्दरलाल सदृश
लोगों ने उनको किया स्ववश।
सुधि विद्वानों को भी आई
यह बोल उठे सरदेसाई!
'समयानुसार इतिहास लिखो
जो चाहो उससे प्रकट करो।
वह नहीं वणिक का लेखा है
इतिहास न प्रस्तर-रेखा है!'

(३)

काशी प्रयाग की लाटों पर
राजा अशोक के वाक्य मधुर!
युग-युग बीते, सदियाँ बीतीं,
भूपों की भी स्मृतियाँ बीतीं!
पर खुदे शब्द जो प्रस्तर पर
वे नित नूतन हैं आठ पहर।
परिवर्तन उनमें हुआ नहीं,
उनकी सुन्दरता घटी नहीं।
पर ये परिवर्तनशील नहीं
इससे ये हैं इतिहास नहीं!

(४)

मैं भी बनकर समयानुसार
इतिहास नया करता तयार।
हिन्दू-मुसलिम का गाढ़ मेल
है आवश्यक ज्यों भटा-तेल।
यह नवभारत की बड़ी माँग
ज्यों पिंड-दान में काग-भाग!
इतिहास! इसलिए हो तयार
अब इत्तिहाद का बजे तार।
मत झिझको, हो तुमको न पीर
तुम नहीं सदृश पत्थर लकीर।
तुम बन जाओ, बस, घंटाघर,
बदलो सुइयों को देख प्रहर!

(५)

महमूद नाम का नृपति एक
था जिसे धर्म का शुभ विवेक।
उसने देखा—जो तीर्थस्थान
वे बने पाप के गढ़ महान।
करने पापों से उन्हें मुक्त,
आया वह वैदिकधर्म-भक्त।
धन सब पापों का एक मूल,
मन्दिर में धन बन जाय शूल!
धन से मन्दिर में दुराचार—
फैलते, सभी कहते पुकार।
धन का मन्दिर में कौन काम?
संन्यासी जैसे सहित बाम!
मन्दिर में कलि का चिह्न लेश—
लख, होता नृप को अमित क्लेश।

फिर वैदिक जो प्राचीनधर्म
उसका जो समझें गूढ़ मर्म
प्रतिमा-पूजन का करें त्याग,
उनको प्रतिमा से है विराग।
अतएव नृपति महमूद चला
फैलाने वैदिक सत्य-धर्म,
समझाने को उसकी महिमा,
बतलाने उसका गूढ़ मर्म।
फैलाते थे जो दुराचार,
प्रतिमा-पूजन नाना प्रकार
करते थे, उनका कर संहार,
कर डाला वैदिकमत-प्रचार।
मन्दिर के धनी पुजारी थे,
वे अति ही पापाचारी थे।
उसने उनको कर वहाँ नष्ट
वैदिकमत को ही किया पुष्ट।
फैले मन्दिर में दुराचार—
जिससे न कभी, यह कर विचार,
ले गया वहाँ का धन सँवार;
कितने शुभ थे उसके विचार!
इससे यह सार निकलता है,
इतिहास सत्य यह कहता है:
महमूद नृपति रक्षक महान
था वैदिक मत का, सुन अजान!

(६)

सरदेसाई की नगरी में,
है मतलब मेरा पूना में,

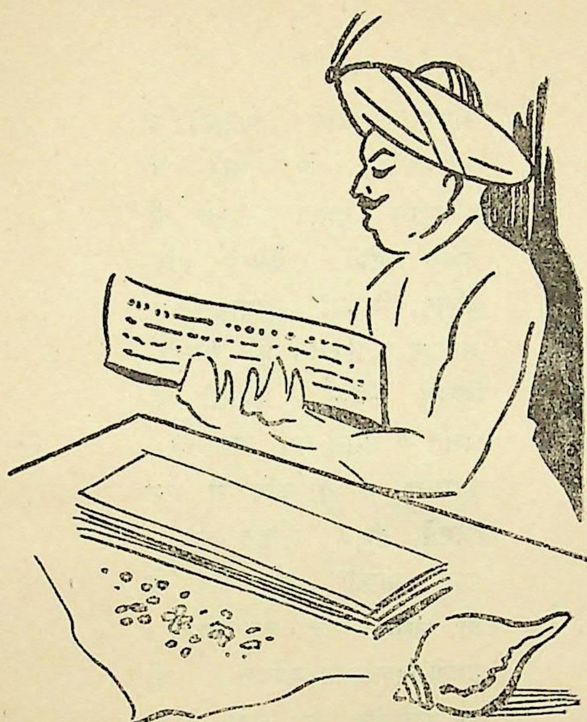


था हुआ शिवाजी वीर एक,
उसके भी किस्से हैं अनेक।
कुछ मूर्खों का यह कहना है
वह हिन्दू था, वह काफ़िर था,
वह मुसलमान राजाओं से
लड़ने में पूरा शातिर था।
इतिहास झूठ यह है बिलकुल,
इसमें न सत्य का तनिक लेश।
जो हो भी, तो समयानुसार
लिखना मेरा कर्तव्य शेष।
वह दाढ़ी लम्बी रखता था
अचकन भी सदा पहिनता था
पाजामा चूड़ीवाला भी
उसको कुछ अच्छा लगता था।

उसने न एक मस्जिद तोड़ी,
कुछ क़ब्र न थी उसने फोड़ी,
औलिया, शाह औ पीरों से
थी प्रीति सदा उसने जोड़ी।
वह शुद्ध फ़ारसी लिखता था,
देखो उसका सुप्रसिद्ध पत्र
जयसिंह नृपति को लिक्खा जो,
फ़ारसी लिखी उसमें पवित्र।
उसने अपने सरदारों को
थीं दीं उपाधियाँ जो विशेष,
वे सभी फ़ारसी भाषा की,
इसमें संशय का नहीं लेश।
फिर क्यों उसको इतिहास कहे
वह हिन्दूराज-प्रचारक था ?
वह मुसलमान से लड़ता था—
वह राजा मुगल-प्रताड़क था ?
वह चूड़ीदार पायजामा,
वह दाढ़ी, भव्य शेरवानी,
मुस्लिम कल्चर तो इनसे है
जाती सदैव ही पहचानी।

(७)

टीपू का भी इतिहास ग़लत
कुछ लोगों ने लिख मारा है !
हिन्दू लोगों का उत्पीड़क
बतलाया गया बिचारा है।
यह झूठ सफेद सरासर है,
इसमें सच्चाई-अंश नहीं।



वह था पूरा हिन्दुस्तानी
कुछ कट्टर और नृशंस नहीं।
उसका न नाम भी अरबी था,
फ़ारसी न तुरकी, अफ़ग़ानी,
यह शब्द यहीं की भाषा का
'टीपू' विशुद्ध हिन्दुस्तानी !
श्रीरङ्गपतन उस राजा की
नगरी प्रसिद्ध रजधानी थी।
यह शब्द संस्कृत का उसके
भावों की एक निशानी थी।
थी डाढ़ी उसके रही कहाँ ?
वह केवल मूछें रखता था।
उसकी उदारता का प्रमाण
इससे न अधिक मिल सकता था।

(८)

भ्रममूलक बातें कितनी ही
औरंगजेब के बारे में
इतिहास हमारे कहते हैं;
देखते दोष बेचारे में।
बलिया में और प्रयाग-निकट
अरइल में कितने ही मन्दिर,
कितने स्थान महन्तों के
चलते थे उससे धन पाकर*।
कम्पिल में था कविराय एक
जिसके वंशज मौजूद अभी,
पाई माफ़ी औरंगजेब से
थी उसने, यह कहें सभी।
काशी-विश्वेश्वर-मन्दिर भी
जब राजद्रोह का बना केन्द्र,
तब बतलाओ वह क्या करता,
आखिर को तो वह था नृपेन्द्र ?

(९)

जो स्वामी शंकर हुए यहाँ
इस्लाम धर्म के ज्ञाता थे।
'ईश्वर है केवल एक'
इसी मत के वह निर्माता थे।

---

* बादशाह औरङ्गजेब ने कितने ही साधुओं को उनके चमत्कार या सिद्धि के कारण माफ़ी दी थी। ये माफ़ियाँ काशी, बलिया और प्रयाग ज़िलों में बतलाई जाती हैं।

प्रसिद्ध कुंडलियाकार गिरधर कविराय कंपिल के रहनेवाले थे। कहा जाता है कि उनके किसी पुरखे ने औरङ्गजेब की कोई बड़ी सेवा की थी जिसके पुरस्कार में बादशाह ने उन्हें माफ़ी दी थी।

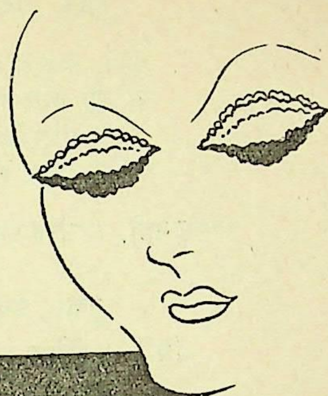
मर गये आयु वे थोड़ी में,
इससे न अधिक वे कह पाये।
कलमा का केवल प्रथम अंश ही
तब तक हाय! समझ पाये।

(१०)

इतिहास लिखा जो है अब तक
वह इस युग के अनुकूल नहीं।
मिलती उससे है किसी तरह भी
इस युग की तो चूल नहीं।
अतएव लिखो इतिहास नया,
इतिहास न है रेखा-प्रस्तर।
वह युग का केवल सेवक है,
सरदेसाई का घंटाघर!

करेलालोचनी

[जनवरी १९४० की 'सरस्वती' में श्री हज़ारीप्रसाद द्विवेदी 'कविता के भविष्य' नामक अपने एक लेख में लिखते हैं कि आजकल का कवि प्रगतिशील होता है। वह सौंदर्य को नहीं, किन्तु सत्य को खोजता है। वह अपनी प्रियतमा से कहता है—"हे प्रिये, तुम सूर्य से भी बड़ी हो, और समुद्र से भी और मेढक से भी," क्योंकि उसकी दृष्टि में अपनी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं। सूर्य और समुद्र अपने आपमें जितने महान् हैं, मेढक भी अपने आपमें उतना ही महान् सत्य है। आगे चलकर वे कहते हैं—"यद्यपि उसकी दृष्टि में कमल का फूल और करैले के फल अपने आपमें समान भाव से सुन्दर हैं, तथापि वह अपनी प्रियतमा की आँख से कमलपुष्प को तुलनीय नहीं बनायेगा। (क्योंकि) उसे इस बात की आशंका रहती है कि पाठक पुराने संस्कारों से बद्ध होने के कारण कहीं उसके नवीन दृष्टिकोण को ग़लत न समझ लें।" उनका कहना है कि ऐसा करने से लोग उसे दकियानूसी या भूसीखोर समझने लगेंगे। वे कविता को सुर, छंद, तुक आदि के बंधनों से मुक्त करने के पक्ष में हैं। फिर वे कहते हैं कि "सम्भव है कि इस लेख को पढ़कर पाठकगण पूछें कि 'आखिर जो कविता छन्द को भी नहीं मानती, अलंकार को भी नहीं मानती, सुर को भी नहीं मानती, उसको हम कविता कहें ही क्यों?' इसका उत्तर यह है कि उसे कविता इसलिए कहना चाहिए क्योंकि कविता को जो कार्य अनादिकाल से रहा है—वह कार्य यह कविता कर रही है। वह पाठक को संवेदनशील बनाती है, उसे सोचने-समझने को मजबूर करती है। कविता वही है, पाठक बदल गये हैं। इसी लिए उसने पाठक को वश में करने लायक़ वेश-भूषा धारण की है।" अग्रलिखित कविता इन्हीं आदर्शों को सामने रख कर लिखी गई है।]



कैसे आज बताऊँ लोचन ?
कमल-नयन यदि कहता हूँ,
तो कहलाऊँगा दक़ियानूसी ।
मृग-लोचनी बताता हूँ तो
बन जाऊँगा भक्षक-भूसी ।
(प्रगतिशील उपमा की इच्छा ।
सुन्दर न, हो सत्य अलबत्ता,
यह उनका मत है हे प्रेयसि !
बसते जो कि निकट कलकत्ता !)

परवल से है उपमा कैसी ?
प्रेम-रोग में अनोपान का काम सदा देती हैं आँखें,
या वे उछल हृदय पर चढ़तीं ज्यों मेढक की पिछली टाँगें !
कहो, रही यह उपमा कैसी ?

(बुरा मान मत जाना प्रेयसि !
मेढक अपने में महान् है ।
आलोचक जो प्रगतिशील हैं,
उनका यह निश्चित विधान है ।)

किन्तु, अरे ! भ्रू भंग हो गया !*
कुत्ते ने मानो दुम से है पैराबोला एक बनाया ।
मैं तो प्रगतिशील युग का कवि, यही भाव है मन में आया ।

* क्योंकि प्रेयसी शायद प्रगतिशील नहीं थी ।

(खैर, दूसरी उपमाएँ खोजी जायँ)

आँख अड़ूसे की है पत्ती,
या वह नीम-पात से मिलती।
प्रेम-रोग जो सर्दी-जाड़ा
उसमें इनका बनता काढ़ा;

किन्तु नहीं, आलोचकगण को यह भी उपमा अरे! न भायी!

एक प्रयास और करता हूँ।
प्रिये! कुपित यदि हो जाओगी,
घर में कुछ उत्पात मचाकर,
फ़ायर इञ्जिन के पानी के
होज़ सदृश, कुछ वारि बहाकर,
निश्चय है, चुप हो जाओगी!
किन्तु काव्य के आलोचकगण,
मेरी इस युग की कविता में,
(जिस युग में रुचि की विकृति है
जहाँ उछलना होती गति है)
उपमा रम्य देख जो लेंगे,
तो वे निश्चय बेचारी को
कर देंगे प्रवाह सरिता में!
इससे प्रिये! विवश हूँ बिलकुल,
मैं दूंगा नवीन ही उपमा।
जाना पड़े मुझे फिर चाहे,
चहबच्चे में, तजकर यमुना।

(क्योंकि)

चहबच्चा निज में महान् है!

(अतएव)—

सदृश करेला आँख तुम्हारी;
वैसी कड़ुई,
वैसी तीखी,

वैसी नोकें प्रिये ! तुम्हारी !
और कभी जब क्रोधित होतीं,
जब तुम नयन फाड़ हो देतीं,
नीम चढ़े तब तिक्त करेले की उपमा पूरी कर देतीं !

यद्यपि कड़ुआ बहुत करेला,
पर बनता स्वादिष्ट करेला,
तेल भुना,—खट्टा नमकीन,
झंकृत करता उर की बीन !
रङ्ग की केवल एक कमी है,
वैसे तो है पूरी उपमा।
प्रगतिशील तुम बनकर बिल्ली,
सजनी ! हरे करो निज नैना !

नश्च—

इस कविता में तुक-बेतुक हैं।
अलंकार ? बिलकुल गायब हैं।
स-सुर नहीं, बिलकुल बेसुर है,
किन्तु 'आइडिया' तो भीतर है
(पिंजड़े में जैसे तीतर है !)
(जो) बोल रहा है गला फाड़कर
संवेदन उठता पाठक उर !
वह हो जावेगा मजबूर,
सोचेगा सिर धर भरपूर।
इससे, यह आदर्श नमूना;
और पुरानी कविताओं को,
लग जावेगा इससे चूना !

ब्राडकास्ट निवेदन

काकुशील कवियों से मेरी बिनती है 'हे कृपानिधान !
कविसम्मेलन में यह कविता पढ़कर करो लोककल्यान।'

अप्रकाशित लाउडथिंकिङ्ग

[जिस समय डाक्टर श्री बाबूरामजी सक्सेना एम० ए०, डी० लिट० हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री थे और कुछ लोगों में सम्मेलन के प्रति असन्तोष था, उस समय उन्होंने ज्येष्ठ-आषाढ़ १९९७ वि० की सम्मेलनपत्रिका में एक लेख प्रकाशित किया था। इसका शीर्षक था 'सम्मेलन क्या करे क्या न करे'? इसमें उन्होंने सम्मेलन की कठिनाइयों की ओर संकेत किया था और सम्मेलन में राजनीतिकों के प्राधान्य को उसका एक कारण भी बतलाया था। उक्त लेख के अंत में वे कहते हैं--"इन पंक्तियों में मैंने उच्च स्वर से सोचने की कोशिश की है जिसको अंग्रेज़ी में 'लाउडथिंकिङ्ग' कहते हैं।" उन्होंने बतलाया है कि सम्मेलन में साहित्यकों की उपेक्षा नहीं की जाती। तब फिर जो लगातार कई साल तक राजनैतिक नेता सम्मेलन के सभापति होते चले गये उसके कारण

बतलाते हुए वे कहते हैं--"साहित्यिक और उनके अनुयायी तो यह जानते हैं कि सम्मेलन का सभापतिपद ऐसा फल है जो इच्छा करने मात्र से उनके मुँह में गिर पड़ना चाहिए। दूसरी ओर राजनीतिक कार्यकर्ता सार्वजनिक प्रजासत्तात्मक संस्थाओं का अनुभव रखता है। जो बात वह थोड़ा ही हाथ-पैर हिलाने से प्राप्त कर लेता है वह साहित्यिक को नसीब नहीं होती।" उनका कहना है कि कोई संस्था साहित्य का निर्माण नहीं कर सकती। वह केवल साहित्यिकों को प्रोत्साहन दे सकती है। और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने 'साहित्य वाचस्पति' की उपाधि तथा मंगलाप्रसाद पारितोषिक की आयोजना इसी अभिप्राय से की है। सम्मेलन ने हिन्दी के विद्वानों को "मंगलाप्रसाद पारितोषिक" भेंट कर जहाँ अपना गौरव बढ़ाया है वहाँ उनकी भी तुच्छ सेवा करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया है। आगे चलकर वे कहते हैं कि "कुछ लोग इस बीसवीं सदी में भी सम्मेलन के सभापतिपद को केवल गौरव और प्रतिष्ठा की चीज़ समझते हैं, वे मंदिर में मूर्ति की स्थापना करना चाहते हैं जिस पर फूल चढ़ाकर अपना आदर भाव प्रदर्शित किया जा सके। मेरी समझ में यह ठीक नहीं, सम्मेलन एक क्रियाशील संस्था है।... इतना निश्चय है कि हमें चाहिए एक कार्यशील पुरुष न कि कोई प्रतिमा।" सारांश, उन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के आलोचकों से वस्तुस्थिति को समझने का निवेदन किया है। किन्तु कुछ लोगों के मत में 'लाउडथिंकिङ्ग' का कुछ अंश अप्रकाशित रह गया है और डाक्टर बाबूरामजी ने, जो कि आर्यसमाज के प्रधान भी रह चुके हैं, शुष्क विद्वान् होने के कारण कवियों की भाँति वातावरण का चित्रण नहीं कर पाया। अग्रिम कविता में उनकी 'लाउडथिंकिङ्ग' की काव्यमयी पूर्ति है।]

(१)

ऋतु थी गर्मी की, प्रयाग चैथम लाइन में
भोजन के बाद मेरे मित्र श्री प्रधान मन्त्री
गोल कमरे में, दो फीट ऊँचे स्प्रिंगदार
सोफ़े पर, आसन समाजी से बिराजे थे।

(२)

निकट के कछार में, जहाँ हैं उगीं झाऊ घनी,
सरपत और घास की जहाँ अनेक झाड़ियाँ,
उनमें उत्पन्न होते डाँस और मच्छर हैं,
चैन से न रहने जो देते हैं मानव को।

(३)

कुर्ते के ऊपर वे गर्दन खुली काटते हैं,
दंश करते हैं वे माथे औ' कपोलों को।
उच्छृंखल होके कभी कुर्ते और धोती में भी,
घुसकर वे त्रास तो अनेक भाँति देते

(४)

"वैदिक समय में तो मच्छर नहीं होते थे,"
सोचा महामंत्रीजी ने गाल खुजलाते हुए,
"ऋषियों ने वेदों में न चर्चा मच्छरों की की,
स्वामीजी भी चुप हैं इनके विषय में—

(५)

"ऐसा भास होता है कि पौराणिक काल में,
अथवा उस समय जब कि रीति काल हिंदी में
फैला रहा था उदात्त शृंगार घोर
ईश्वर ने इन्हें कष्ट देने उपजाया था।

(६)

"किंतु कुछ समझ में न आता है कि क्यों ये मुझे
(जो कि खद्दरधारी औ' अहिंसा का पुजारी है)
नाहक ही काटते औ कष्ट घोर देते हैं।
भोजन के बाद भी विराम नहीं पाता हूँ।"

(७)

फिर कुछ देर लों वे चुप यों सोच करते रहे!
बाद में महात्मा, महापुरुषों की शैली में,
पंखे को तेज़ कर, लैम्प सामने से हटा,
टाँगें कर ऊँची, लाउडथिंकिंग करने लगे।

(८)

"मच्छरों ही को भला दोष क्यों अकेले दूँ मैं ?
हिन्दी में आज कितने मशक रूप धारण कर—
'भारत' 'विचार' 'देशदूत' आदि पत्रों में
दंश कर, फैला रहे साहित्यिक मलेरिया ।

(९)

"इन मच्छरों के विषाक्त दंशों से ही हाय !
हिंदी के उन सीधे-सादे बुद्धुओं को भी—
जिन्हें हम भेड़ों की भाँति हाँकते सदा हैं रहे
ज्वर का प्रकोप घोर आज हो आया है ।

(१०)

"और यह कितने बड़े कष्ट की है अरे ! बात
(देखकर कलेजा हाय ! मुँह को चला आता है)
वैद्य काका साहब की कुनैन हिंदुस्तानी की—
पुड़िया भी खाने में सत्याग्रह करते वे ।

(११)

"कुछ बलियाटिकों ने उनसे कह रखा है
'पुड़िया जो खाई तो तुरंत मर जाओगे;
काका की न मानों बात, दादा की न बात सुनो,
नाना और मामा के कहने में न आओ तुम !'

(१२)

"वैद्य काका साहब ने चिढ़कर जो कहीं हाय !
हिंदी के रोगियों की छोड़ दी चिकित्सा, तो—
पुड़िया कुनैन हिन्दुस्तानी नष्ट होवेगी, औ'—
जाकिर हुसेनी कुनैन रह जावेगी ।

(१३)

"ज़ाकिर हुसेन की कुनैन बड़ी कड़ुई है!
उसका तो पीना मेरे लिए भी कठिन है!
काका की पुड़िया से ही चिढ़ते समाजी भाई,
ज़ाकिर हुसेनी से तो हुक्का बन्द होवेगा।

(१४)

"सोच ये रहा हूँ आखिर तो फिर करूँ मैं क्या?
यानी साहित्य सम्मेलन अब क्या करे?
एक ओर काका की खाई बड़ी गहरी, ओर—
दूसरी तो सागर हिन्दी-प्रेमियों का भारी है।

(१५)

"कविगण भी जो सदा उषा की ललाई मध्य—
प्रेयसी के चरणों की मेंहदी हैं देखते,
कल्पना के लोक में अहर्निश जो रहते और
जिन्हें सम्मेलन से पुरस्कार मिलता है।

(१६)

"लेखक, वे जो कि पुस्तकों में सदा डूबे रहें,
जिनको क्रियाशीलता कलम घिसने में है,
जो कि पांडुलिपि को भी रख न सकें ऑर्डर में,
जिन्हें हम सहायता परीक्षा-विभाग में—
पुस्तकें स्वीकार कर, और बिकवा कर,
तरह-तरह से सदैव देते आये हैं।

(१७)

"और अध्यापक कुछ हिंदी के ऐसे हैं—
ठेकेदार अपने को समझते हैं हिन्दी का,
किंतु जो 'निराला' 'पंत' में है कौन बड़ा कवि,
इसका भी निर्णय न अब तक कर पाये हैं।

(१८)

"जिनकी व्यावहारिकता लेक्चर के देने में—
होती है समाप्त, नहीं आगे बढ़ पाती है।
जिनको हमारे विश्वविद्यालय परिषद् के।
वर्गों में सदस्यता का उपहार है मिला।

(१६)

"ऐसे संपादक भी हिन्दी में थोड़े से हैं—
(दु:ख होता है हा! अवस्था यह देखकर)
जिन्हें संपादक के उत्तरदायित्व के—
गुरुतर भार का न बोध ज़रा होता है।

(२०)

"और जो बहकर भावुकता की धार में—
बड़े-बड़े नेता का विरोध कर उठते हैं।
वर्धा के एकमात्र दूत काका साहब के
गुरु-व्यक्तित्व का लिहाज़ नहीं करते वे।

(२१)

"और यह कितने बड़े विस्मय की बात है कि—
खद्दर पहिन कर भी, कांग्रेस में रहते हुए,
करते विरोध राष्ट्र-भाषा हिन्दुस्तानी का,
और रट, 'हिन्दी, अरे हिन्दी!' की लगाये हैं।

(२२)

"सबसे बड़े डाँस तो हैं किंतु वह लोग जो कि—
कवि हैं न लेखक, न कहीं संपादक हैं।
दाल-भात में भी अकारण बन मूसलचन्द,
जो कि हिंदी-हित का इजारा लिये बैठे हैं।

(२३)

''क्रियाशीलता तो पास फटकी नहीं इनके है,
किंतु हम लोग–जिन्हें वह है मिली हुई––
आँखों में इनके लगते काँटों की तरह हैं;
खेद ! हिताहित का भी ज्ञान इन्हें है नहीं।

(२४)

''राजनीतिज्ञ सदा से ही हावी रहें देश में हैं,
चारण बन कवि कीर्ति इनकी रहे गाते हैं।
किन्तु इन्हें जब से है लगाया मुँह हमने तो–
मालिक हमारे वे अपने को बताते हैं।

(२५)

''सम्मेलन कैसे साहित्य-निर्माण करे ?
माना हुआ काम यह कवि-कोविदों का है।
सत्समालोचना और देना पुरस्कार उन्हें–
काम है हमारा; उसे हम तो किये जाते हैं।

(२६)

''व्यग्र जो रहते हैं सदैव साहित्य में ही
उन्हें भला कैसे होवै ज्ञान हिन्दी क्या चाहती ?
उन्हें अपनी नाक के आगे की वस्तु भी,
सेवा साहित्य के कारण है न दीखती।

(२७)

''चाहिए उन्हें कि वे राजनीतिक बातों को–
छोड़ देवें हम पर; क्यों ? हमारा यही काम है।
क्या इस क्षेत्र में वे हमसे ही लड़कर औ'
हमको हटा करके सफल हो पावेंगे ?

(२८)

"और ये हिंदी के अनोखे लोग कैसे हैं कि
सनातन धर्म अवलम्बियों के चक्कर में–
आकर, या ब्रज की पदावली को पढ़कर वे–
सम्मेलन को मन्दिर बनाने पै उतारू हैं !

(२९)

"मूर्ति स्थापित कर, करेंगे उपासना वे,
किन्तु मैं प्रधान हूँ समाज का, पता नहीं ?
मूर्ति-पूजा मानव की बुद्धि का अनादर है !
मूर्तियों की पूजा कभी होने नहीं दूँगा मैं।

(३०)

"मूर्ति नहीं चाहता हूँ, प्रतिमा निर्जीव पर–
फूलों को चढ़ाकर, भला उन्नति आज होगी क्या ?
क्रियाशील चाहिए मशीन-सा सभापति औ'
जिसके चलाने में मुझे न कठिनाई हो।"

(३१)

बाहर, आकाश में जो श्यामल घटा थी घिरी,
लगी वह बरसने, वायु शीतल थी हो गई।
श्रम से लाउडथिंकिंग के, श्रीयुत प्रधान मंत्री
क्लांत हो, विचार-मग्न, सोफ़े पर सो गये !

हाथ पैर हिलाना

[डाक्टर श्री बाबूरामजी सक्सेना ने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रधान मंत्री के पद पर रहते समय 'सम्मेलन क्या करे क्या न करे ?' शीर्षक जो लेख लिखा था उसमें एक वाक्य यह भी था कि "राजनीतिक कार्यकर्ता सार्वजनिक प्रजासत्तात्मक संस्थाओं का अनुभव रखता है जो बात वह थोड़ा ही हाथ-पैर हिलाने से प्राप्त कर लेता है वह साहित्यिक को नसीब नहीं होती।" यह बात राजनीतिकों के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति होने के विषय को लेकर लिखी गई थी। राजनीतिकों में महात्मा गांधी, देशरत्न डाक्टर श्री राजेन्द्रप्रसाद, श्री बाबू सम्पूर्णानन्द और श्री जमनालाल बजाज सम्मेलन के सभापति हो चुके थे। इस पर श्री वेंकटेशनारायणजी तिवारी ने यह आपत्ति की कि डाक्टर सक्सेना के इस वाक्य से यह ध्वनि निकलती है कि उक्त राजनीतिकों ने सम्मेलन का सभापतित्व थोड़ा 'हाथ पैर हिलाकर' अर्थात् थोड़ा प्रयत्न करके प्राप्त किया। सम्मेलन के सभापतिपद के लिए थोड़ा प्रयत्न करना भी इन राजनीतिकों के लिए अशोभनीय बात है। उन्होंने इस आशय का एक प्रस्ताव भी सम्मेलन की स्थायी समिति में भेजा। डाक्टर सक्सेना ने महात्माजी और राजेन्द्र बाबू को लिखकर पूछा कि क्या उपरोक्त वाक्य से उनका अपमान हुआ है ? किन्तु दोनों ही ने लिखा कि यह वाक्य निर्दोष है। जब स्थायी समिति में तिवारीजी का यह प्रस्ताव पेश हुआ तब सभी सदस्यों ने कहा कि 'हाथ पैर हिलाने' का अर्थ सभापति होने के लिए प्रयत्न करना नहीं है। फलतः तिवारीजी का प्रस्ताव गिर गया।]

स्थान—हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का भवन
अवसर—स्थायी समिति की बैठक

(१)

बैठे थे पण्डित, और बैठे थे शास्त्री,
बैठे सम्पादक थे, बैठे थे लेखकजी,
बैठे थे बी०ए०, एम०ए०, पी०-एच डी०, डी०लिट्०तथा
प्रथमा परीक्षा पास, रत्न औ' विशारद थे ।

(२)

भाषा विज्ञान के भी पण्डित कुछ थे वहाँ,
बी० ए० और एम०ए० में हिन्दी पढ़ानेवाले,
आलोचक—पत्रों में जुटे जो सदा रहते हैं
ऐसे पटवारी भी वहाँ विराजमान थे ।

(३)

ज्ञान के उपासी, विज्ञान के पुजारी भी थे,
छन्दशास्त्र, भाषाशास्त्र के भी निष्णात थे,
ध्वनि के विज्ञानी, व्यंजना के अभिमानी तथा
लासानी माहिर मुहावरों के बैठे थे ।

(४)

धीर, गम्भीर मुखमुद्रा थी लोगों की,
सभी थे विचारमग्न, चिन्ता में चूर थे।
ऐसा गम्भीर प्रश्न पहिले नहीं आया था——
''अर्थ क्या होता 'हाथ पैर के हिलाने का'?''

(५)

करके निस्तब्धता को भंग श्री प्रधान मंत्री
बोले श्रीमुख से गँभीर, धीर वाणी से
''ऐतिहासिक चिंतना जो मेरी उच्चस्वर की है
उसमें प्रसंगवश शब्द यह आये हैं——
'सभापति-पद-रूपी फल ही कुछ ऐसा है
जिसे राजनीतिक पा लेते अनायास हैं
थोड़ा ही हिला के हाथ पैर, किन्तु खेद है कि
हिन्दी साहित्यिकों को प्राप्त नहीं होता है।'
कहते हैं तिवारीजी कि मैंने अपमान किया
देश पूज्य नेताओं का अपने उस लेख में,
क्योंकि अर्थ होते हैं उसके कि नेताओं ने
किया उद्योग था प्रधान पद पाने का।
भ्रम है तिवारीजी को, उल्टा ये लगाते सदा
अर्थ तो है सीधा, इसे बच्चा भी मानेगा।
हिन्दी का सादा यह प्रचलित मुहावरा है
'इच्छा ही करना' अर्थ इसका अति सीधा है।
सोचें ज़रा आप, मेरे मित्र श्री तिवारीजी
करते हैं अनर्थ व्यर्थ मेरे इस अर्थ का।
क्या मैं करूँगा अपमान नेतागण का भी ?
आप जानते हैं शक्ति मेरी यह है नहीं।
बापू को लिखा था मैंने, और राजन बाबू को,
(हिन्दी के दोनों ही तो पण्डित महान हैं)

दोनों ही कहते अपमान इन शब्दों से
होता नहीं। मान भी क्या कद्दू की बतिया है?
और देखें आज जो ये चमत्कार है हुआ!
मैंने उद्योग है किया न वोट पाने का।
सिर्फ हाथ पैर ही हिलाये मैंने थोड़े से हैं
यानी, सिर्फ इच्छा वोट पाने की की है।
ज्यों ही हाथ पाँवों ने हिलना आरम्भ किया,
यानी ज्यों ही इच्छा मैंने की है वोट पाने की,
हिन्दी के विज्ञ, सुधी, मर्मज्ञ पण्डितों ने
देखिए! अभूतपूर्व साथ मेरा है दिया।
पंचों के हाथों में मैं न्याय यह छोड़ता हूँ,
पंच परमेश्वर समान गये माने हैं।
पंच ही बतावें, सरपंच की दुहाई है कि
मैं हूँ सही या श्री तिवारीजी ग़लत हैं?''

(६)

बैठे श्री प्रधान मन्त्री हलके हो भाषण से,
उठे अध्यापकवर विश्वविद्यालय के;
सुमधुर, सुरीली, मृदुवाणी से अलापे जैसे
केकी मेघमाला को देख कूक उठता है:

(७)

''यद्यपि आचार्य नहीं हिन्दी-साहित्य का हूँ
किन्तु साहित्य की तो बात भी यहाँ नहीं।
इसके लिए हिन्दी-ज्ञान होना भी ज़रूरी नहीं
यह तो मुहावरे का प्रश्न एक सीधा है।
देश में प्रसिद्ध एक प्रचलित कहावत है
'मर्दों को हाथ पैर अच्छा है हिलाना नहीं।'
मर्दों पै कैसे अभियोग महामन्त्रीजी
हाथ पैर दोनों के हिलाने का लगावेंगे?

श्रीयुत प्रधान मन्त्रीजी की देशभक्ति में तो
रंचक सन्देह नहीं कोई कर सकता है।
देश की परम्परा के जो है विरुद्ध बात
कैसे भला उसको होश रहते कह सक्ते हैं ?
और सो भी देश-पूज्य नेता की शान में ?
विश्ववंद्य गांधी, राजन बाबू के बारे में !
हिन्दी के कर्णधार जन के सम्बन्ध में !
सोचना भी ऐसी बात, मानसिक पाप है !"

(८)

बोल उठे शास्त्रीजी, बोल उठे पण्डितजी,
बोले समालोचकजी, बोले सम्पादकजी,
बोले अध्यापकजी, भाषा-विज्ञानीजी,
बोले समस्वर से हिन्दी-भाग्य के विधाता सभी,
बोले पंचरूपी परमेश्वर करने को न्याय,
बोल उठा सारा सम्मेलन एक स्वर से—

(९)

"मूर्ख हैं तिवारीजी ! बँहके हैं तिवारीजी !
खाक नहीं जानते हैं हिन्दी ये तिवारीजी !
इस्में है दोष कैसा ? आर्ष ये प्रयोग है !
हिन्दी में होता हाथ पैर के हिलाने का
अर्थ, उद्योग नहीं। ठीक हैं प्रधान मन्त्री !
सही हैं प्रधान मन्त्री ! साधु हैं प्रधान मन्त्री !
हिन्दी के अद्‌भुत विद्वान् हैं प्रधान मन्त्री !
श्रीयुत प्रधान मन्त्री धन्य, धन्य, धन्य हैं !!"

(१०)

कर लेवें नोट सभी हिन्दी-कोषकार यह,
रामचन्द्र वर्मा, पण्डित द्वारकाप्रसादजी,

डाक्टर रसाल, कोषकार श्री त्रिपाठीजी औ'
रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दरदास भी;
भूत, वर्तमान और भावी कोषकार सभी,
हाथ और पैर के हिलाने का अर्थ है—
इच्छा मात्र करना। सम्मेलनी विधान है।
आगे वे अर्थ का अनर्थ न करें कभी!

(११)

अक्षर हैं कामधेनु, पण्डित यह कहते हैं,
साक्षर साहित्यिक कामधेनु के समान हैं।
भरद्वाज आश्रम के पास पढ़ वेद मन्त्र
कामधेनु दोनों ही दुहीं प्रधान मन्त्री ने!

(सब)

बोलो फिर एक बार, ठीक हैं प्रधान मन्त्री!
सही हैं प्रधान मन्त्री! साधु हैं प्रधान मन्त्री!
हिन्दी के अद्भुत विद्वान हैं प्रधान मन्त्री!
श्रीयुत प्रधान मन्त्री धन्य, धन्य, धन्य हैं!!

एक अदबी ख़त

यानी

मुजर्रब नुस्ख़े की तलाश

(पं० बनारसीदास चतुर्वेदी की आमफ़हम भाषा में)

[पं बनारसीदास चतुर्वेदी ने सस्ता-साहित्य-मंडल से 'जीवन-साहित्य' नामक पत्र निकलने पर जो अपनी सम्मति उसके संपादक पं० हरिभाऊ उपाध्याय के पास भेजी थी, उसकी भाषा बड़ी संदेहजनक है। यदि वे अपनी सम्मति की भाषा को ही हिन्दी समझते हैं तो हिन्दीवालों को उनसे सतर्क रहने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। सम्भव है, यह हमारी आशंका ही हो। किन्तु उनकी भाषा ने हमें बहुत आशंकित कर दिया है। वह सम्मति, जो 'जीवन-साहित्य' के दूसरे अंक में छिपी है, यह है—"जीवन-साहित्य ऐन वक्त पर और बहुत अच्छा निकला। ऐसे पत्र की निहायत जरूरत थी। हिन्दी की अदबी दुनिया में यह मुफीद रिसाला अपना स्थान जल्दी ही बना लेगा।......बन्धुवर हरिभाऊ ने हिन्दी-साहित्य की उपमा उस मोटे आदमी से दी है, जिसका वजन कई मन का हो गया है, पर जो चलने में क़दम-क़दम पर हाँफता है। हिन्दी लिटरेचर की बढ़ती हुई तोंद को, जो दरअसल काहिली की निशानी है, पटकाकर वे उसे छरहरे बदन का चुस्त नौजवान बनाना चाहते हैं। उम्मेद है कि उन्हें इस माकूल इलाज में कामयाबी हासिल होगी। ब्योरेवार रिव्यू अगले हफ्ते में भेजूँगा। अगर गुस्ताख़ी मुआफ़ हो तो इतना अर्ज़ कर दूँ कि भाषा को आमफ़हम बनाने की ज़रूरत है।" पढ़ी आपने यह भाषा, जिसे पं० बनारसीदास 'आमफ़हम' कहकर एक हिन्दी-पत्र को अपनाने के लिए कहते हैं? अब ज़रा आगे की कविता पढ़ लीजिए।]

आली जनाब पंडत चौबे बनारसीजी
दाम इक़बालहू की ख़िदमत में आया था—
'जीवन-साहित्य' नामी दिल्ली से रिसाला एक,
हर्री बहाऊ पंडत साहब का निकाला हुआ ।

ओरछा में महलों की करके मेहमानदारी,
आली जनाब पंडत साहब की तोंद तो—
निकली चली आ रही थी बेतहाशा, वैसे ही
जैसे उपदेश मुँह से उनके निकलते हैं ।

तोंद से बेज़ार, परीशान पंडत साहब थे,
तहमत का बोझ भी सँभाल वह न सकती थी।
लाखों तरकीबें करके हार वे चुके थे, लेकिन—
सुरसा के समान तोंद बढ़ती चली आती थी।
जीवन-साहित्य के वे पन्ने जो उलटने लगे,
देखा वहाँ, ज़िक्र आया तोंद के घटाने का।
ख़ुशी के मारे, गो उछल तो वे ज़रा न सके,
ख़त एक फ़ौरन् ही तयार किया आपने।
उसमें लिखा था—

"भाई हरी बहाऊजी !
ऐन वक़्त ही पर तो निकाला ये रिसाला है।
ऐसे रिसाले की ज़रूरत निहायत ही थी,
(क्योंकि कुछ दिनों से हिन्दीवालों ने मुझको तो
सीरियसली (seriously) लेना प्रायः छोड़ ही दिया था)
हिन्दी की अदबी दुनियाँ में लगायेगा ये
चार चाँद। आपका मुफ़ीद ये रिसाला है।
(मेरे तो लेख आप छापा ही करेंगे !)

आपने तो हरी भाई ! हिन्दी-साहित्य की—
दी है मुशाबहत उस मोटे इन्सान से,
जिसका वज़न हुआ कई एक मन का है
और जो चलने में मेरी ही तरह तो
हाँफने लगता है; गोया क़दम-क़दम पर
(जैसी मेरे लेखों की अदबी कैफ़ियत है।)

हिन्दी-लिटरेचर की बढ़ती हुई तोंद को, जो
अस्ल में एक है निशानी काहली ही की,

(मुझे अपनी तोंद के कारण की नालिज (knowledge) है)
आप पटकाकर उसे छरहरा बनाइए।
मुझे उम्मीद है कामिल कि हासिल होगी—
कामयाबी आपको, इस तोंद के इलाज में।
कारगर होगा जो इलाज कहीं आपका, तो
मैं भी तोंद अपनी ज़रा हल्की कराऊँगा।

हाँ, ज़री बात एक कहनी है आपसे,
मेरी गुस्ताखी को मुआफ़ फ़रमाइए,
(कहने से बाज़ गो न आऊँगा वैसे भी)
अपनी ज़ुबान ज़रा आमफ़हम कीजिए।

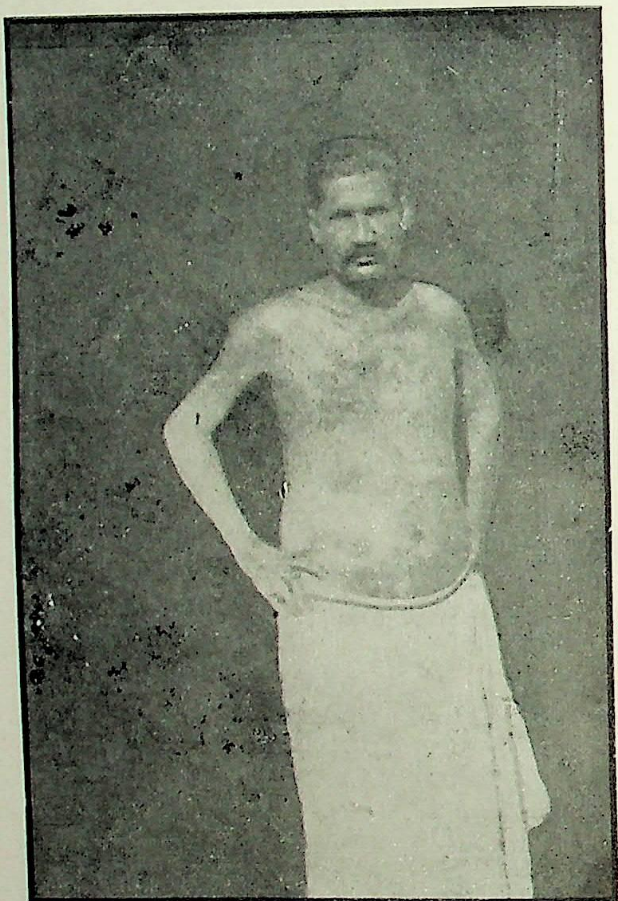
मसलन्, यह आपने जो लफ़्ज़ 'साहित्य' ही है--
किया इस्तेमाल, वह सक़ील होगा लोगों को।
लिखना था आपको 'अदब' लफ़्ज़ उसकी जगह,
लफ़्ज़ 'लिटरेचर' आमफ़हम होता ज्यादा ही।

मुझे उम्मीद है कि कामयाब होंगे आप,
ढोल निज कीर्ति का बजाते सदा जाइए।
मित्रों की सम्मति मँगाकर हज़ारों ही—
टेस्टिमोनियल्स (Testimonials) की पूरी बैटरी लगाइए।*

हिन्दी में किसको है तमीज़ स्वयं सोचने की ?
वे तो यही देखते हैं—'अलिफ़' क्या कहता है ?
'बे' की राय कैसी है ? 'सीन' ने बताया कैसा ?
'चे' 'ग़ैन' आदि इसे अच्छा हैं कहते क्या ?

---

*जीवन साहित्य के दूसरे अङ्क में उसके संबंध में प्रसिद्ध नेताओं और साहित्यिकों की अनेक प्रशंसात्मक सम्मतियाँ छपी थीं।



"फोटो पेश-खिदमत मैं करता हूँ।"

ढोल पीटने में कितनी मुझको महारत है
आप जानते हैं, कुछ आपसे छिपा नहीं।
ऐसा ढोल पीटूँगा मैं आपके रिसाले का कि
कानों के पर्दे पाठकों के फट जावेंगे।

हाँ, तो वह नुस्ख़ा जो आपका मुजर्रब है
तोंद पटकाने का, उसे तो ज़रा भेजिए।
छरहरा बदन मेरा होना है ज़रूरी बड़ा,
तोंद कम्बख़्त से तो परेशानी भारी है।

ठीक मिक़दार उन दवाओं की नुस्ख़े में
लिख न सकेंगे आप बिना तोंद देखे क्या ?
आना तो मेरे लिए मुमकिन नहीं है, लेकिन
तोंद का ही फोटो पेश-ख़िदमत मैं करता हूँ।

*जी० सा० को प्यार, दुआ बहुत-बहुत देता हूँ,
ख़ुदा ख़ुश रक्खे, मैं बलाएँ उसकी लेता हूँ।
ख़त का जवाब दीजिएगा डाक वापसी,
आपका नियाजमन्द
मैं हूँ
बनारसी।

*जीवन-साहित्य-सम्पादक अपने पत्र के लिए जी० सा० के लघु-संकेत का उपयोग करते हैं।

आलू का पेड़

[पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने सितम्बर सन् १९४० के विशालभारत में 'साहित्य और जीवन' नामक एक सुन्दर और गवेषणा-पूर्ण लेख लिखा था। उसमें उन्होंने जो कुछ कहा है उसका सारांश यह है कि हम लोगों की शिक्षा इतनी अपूर्ण है (या हम इतने अशिक्षित हैं) कि हमें अपने आसपास की वस्तुओं का ही ज्ञान नहीं है। लेखकों का कर्त्तव्य है कि वे ऐसा साहित्य रचें जिससे हमारा ज्ञान बढ़े। उदाहरण के लिए उन्होंने अपने ही कई अनुभव दिये हैं। वे कहते हैं—"कौआ, तोता, मोर, खुटकमड़ैया, पिड़कुलिया, गलगलिया, चील, मैना, कोयल, उल्लू इत्यादि पन्द्रह-बीस पक्षियों को छोड़कर और किसी को मैं नहीं पहचानता, और सो भी इनकी शकल से परिचित हूँ! इनके स्वभाव, रहन-सहन इत्यादि के बारे में मेरा ज्ञान अत्यल्प है।.... बुलबुल भी मैंने बहुत वर्षों बाद देखी और चण्डूल तो आजतक नहीं

देखा !...और अब अड़तालीस वर्ष की उम्र में मैंने 'बुलबुल का आशियाना' भी देख लिया है !......पशुओं के विषय में भी हमारा ज्ञान बहुत कम है। नर-पशुओं की बात जाने दीजिए, उन्हें तो हम थोड़ा-बहुत जानते भी हैं और वे भेड़ियों की तरह हर मुल्क और मिल्लत में पाये जाते हैं। मट्ठे बैल का मुहावरा मैंने सुन रखा था पर उनके दर्शन किये कुल साल भर ही हुआ है। अपने बगीचे के लिए सत्तर रुपये खर्च करके एक जोड़ी बैल मऊरानीपुर से मँगवाये।...वे लेट गये और उठने का नाम ही नहीं लेते ! पूँछ मरोड़ी गई, कुछ ठुक-विद्या भी हुई, अनेक उपाय भी किये गये; पर वे तो अपने सिद्धान्त के पक्के घोर सत्याग्रही थे। तब लोगों ने समझाया, मट्ठे बैल इन्हीं को कहते हैं। कहने की ज़रूरत नहीं, यह शिक्षा मुझे बहुत महँगी पड़ी।... फिर भी चाय की भैंस के मुक़ाबिले में यह सबक़ सस्ता रहा। नक़द बयालीस रुपये में मैंने एक भैंस खरीद ली है, जो बस चाय बनाने के लायक़ दूध देती है !" इसी प्रकार अपनी 'अनजानकारियों' की सूची देते हुए वे एक घटना लिखते हैं—"हम लोग अपने आसपास के मानव-जगत् से नहीं, पशु-पक्षी और वृक्ष-जगत् से भी बहुत कम परिचित हैं। बड़ी वेशर्मी के साथ मैं आपके सामने अपने अज्ञान का एक उदाहरण और पेश करूँगा। ओरछा-राज्य के रेवेन्यू-कमिश्नर ने दो वर्ष हुए मुझे दावत दी थी। उस समय उनके आँगन में एक पौधे को लगा देखकर मैंने कहा—"ठाकुर साहब, यह क्या वृक्ष है !" वे हँसकर बोले—"चौबेजी, आप आलू भी नहीं पहचानते !" चौबेजी, चालीस-पैंतालीस वर्ष से आलू खाते आ रहे थे; पर आलू का पौधा ज़िन्दगी में पहली बार ही देखा था !" सो अपनी अनजानकारियों की लम्बी सूची देखकर चतुर्वेदीजी ने हिन्दी-लेखकों को सलाह दी है कि तुम लोग ऐसी पुस्तकें और लेख लिखो जिनसे अशिक्षितों का ज्ञान बढ़े। अब हिन्दी-लेखकों को चाहिए कि वे शिक्षितों के लिए लिखना बन्द कर दें। चूंकि कुछ लोगों ने चंडूल नहीं देखा, इसलिए चंडूल पर पुस्तकें लिखें। कुछ लोगों ने आलू के खेत नहीं देखे, इसलिए वे आलू पर एक पुस्तक लिखें और विश्वास रखें कि वातावरण में आँखें बन्द करके रहने वाले लोग इन पुस्तकों से ही चंडूल और आलू के विशेषज्ञ हो जायँगे !]

चोबेजी बैठे एक लेख लिखने के लिए,
वैसी तो नहीं—किंतु मानसिक बूटी पिए ।
मानसिक बूटी के हैं प्रेमी श्री बनारसी,
वैसे तो पीते वे केवल लिपटन की टी ।

"जीवन-संबन्धित साहित्य मुझे लिखना है ।
मेरा ही जीवन यह देखो बड़ा कितना है !
जीवन में मैंने हैं बुद्धूपन जितने किए
उनकी ही सूची होगी अलम् लेख के लिए ।

"चूड़ीपुरीवासी सारे चौबों ने ठीक ही *
ऋषि की उपाधि मुझे सोच-समझ के ही दी। †
ऋषि के समान मग्न रहता आत्म-चिंतन में,
ध्यान मेरा जाता था न मोरी में, न मच्छर में।

"ओरछा रियासत में ठाकुर थे मित्र एक,
पा के निमंत्रण करने भोजन गया जो मैं,
देखा वहाँ आँगन में अपरिचित है पौधा एक
ज्ञान की पिपासा मेरी चटकी उसे देखके।

पूछा यह ठाकुर से—'कहिए यह वृक्ष कौन ?'
हँसके वे बोले—'अरे! चौबे जी! कहते क्या ?
आप क्या पधारे यहाँ लोक किसी दूसरे से
आलू भी आप पहचान जो सके नहीं ?'

मैंने तब सोचा—'कितना गहरा अज्ञान मेरा ?
मेरा साहित्यज्ञान कितना बेकार है ?
यद्यपि हूँ आज अड़तालिस पूरे वर्षों का
कैसा मेरा ज्ञान! ज्ञान आलू का भी है नहीं!'

बात है पुरानी, कहीं एक बादशाह थे।
बचपन से ही वे महलों में रहते थे।
सदा परिचारिकाएँ घेरे उन्हें रहती थीं,
उन्हें संसार की ख़बर कुछ थी नहीं।

---

* अपने उपरोक्त लेख में चतुर्वेदीजी ने लिखा है कि मेरा निवास-स्थान फिरोजाबाद चूड़ियों और मोरियों के लिए प्रसिद्ध है। मोरियों के कारण वहाँ मच्छर बहुत हैं जिससे मैं कई बार मलेरिया से बीमार हो गया।

† फिरोजाबाद के चौबों में पं० बनारसीदासजी 'ऋषिजी' के नाम से प्रसिद्ध हैं।

एक दिन एक भोला आया किसान वहाँ,
अर्ज़ी ये लगाई कि "अमुक ज़मींदार ने,
भैंसों को छोड़ मेरे खेतों के बीच में,
गेहूँ हैं सारे मेरे खेत के चरा दिये !"

किंतु प्रतिवादी बादशाह से सुपरिचित था,
बोला "बादशाह तो स्वयं सर्वज्ञ हैं !
देखें हुज़ूर ! कितना झूठा अभियोग है ?
भैंसें भला कैसे पेड़ गेहूँ का खाएँगी ?"

बोले बादशाह—"यह वादी बेईमान है !
गेहूँ का दरख़्त कहाँ ? कहाँ भैंस बावली ?
कैसे चढ़ सकती भला भैंस है दरख़्त पर ?
मुझे धोखा देता है ? दावा यह झूठा है !"

सुनी थी कहानी तब मैंने यह सोचा था
महलों में रहने से ही उक्त बादशाह को
जीवन की छोटी छोटी बातों का ज्ञान भी
होने नहीं पाया था, अनुभव के कोरे थे !

किन्तु श्री बनारसी तो एक सम्पादक हैं,
सो भी हिन्दी के एक लब्ध-ख्याति पत्र के ।
पढ़ा मैंने जब यह कि वे 'आलू के वृक्ष' से
परिचित नहीं हैं, तो मैं सदय हुआ शाह पै !

योग्य को योग्य मित्र मिलते सदैव ही हैं,
शोभा के लिए या बस छाया पाने के हेतु
उनके चतुर और बुद्धिमान मित्र ने
आलू का वृक्ष ला आँगन में लगाया था !

चूड़ीपुरी के पास मैनपुरी है ज़िला,
जिसमें है गाँव एक, भव में प्रसिद्ध है ।

वहाँ जो विश्वविद्यालय एक है पुराना बड़ा
सुना है बनारसीजी का उससे अनुराग है।

इसी योग्यता से उन्हें इसका अधिकार है कि
देवें उपदेश वे सुलेखकों को हिन्दी के :
"शिक्षितों के लिए कुछ लिखना बेकार ही है,
लिखना है तुम्हें तो लिखो शुष्क बुद्धुओं के लिए।"

दिमाग़ी ऐयाशी

[पण्डित रामनरेश त्रिपाठी ने अब तो वाणप्रस्थ आश्रम ग्रहण कर लिया है, किन्तु जब तक वे हिन्दी में रहे तब तक वे बिजली के 'डाइनमो' का काम करते रहे वे। कवि, लेखक, टीकाकार, समालोचक, संग्रहकर्ता, यात्रा-लेखक, जीवनी-लेखक—सभी कुछ रह चुके हैं और जो कुछ भी उन्होंने लिखा उसमें उनके व्यक्तित्व की छाप है। वर्तमान हिन्दी कवियों की गति-विधि की देखरेख वे उसी प्रकार रखते थे जिस प्रकार सी० आई० डी० वाले मुजरिमों की रखते है। उनका दृष्टिकोण विशुद्ध राष्ट्रीय रहा है और वे कविता में राष्ट्रीयता को उसी प्रकार चाहते हैं जिस प्रकार संतकाल में संत कविगण प्रत्येक कविता में रामनाम चाहते थे। उनकी सम्मति में जनता के जीवन और राष्ट्रीयता से हीन कविता 'दिमागी ऐयाशी' है और उन्होंने कुछ दिन पहिले इस नाम की एक व्यंग्यपूर्ण पुस्तिका में हिन्दी के 'दिमाग़ी ऐयाशों' की मरम्मत भी खूब की है। किन्तु दिमाग़ी ऐयाशी वास्तव में क्या है—इस पर बहुत मतभेद है। दिमाग़ी ऐयाशी के थोड़े से नमूने इस कविता में पढ़िए।]

"देखी क्या आपने दिमागी ऐयाशी भी है ?"
"किसकी ?" "श्री त्रिपाठी जी की," उत्तर दिया मित्र ने।
"कौन से त्रिपाठी से है मतलब तुम्हारा मित्र ?"
"जिसने यश लूटा मार कृति रूपी लाठी को।"

"अच्छा !" कुछ अचरज में आकर मैं बोल उठा
"ऐयाशी ? सो भी दिमाग़ी ? क्या त्रिपाठीजी
करने लगे हैं उसे पाके वयोवृद्धता ?
मैं तो उन्हें प्योरिटन सदा से ही समझता था।"

"भूल करते हो तुम सदा की भाँति आज भी तो,
वे हैं ऐयाशी की अवस्था पार कर चुके ।
उनकी एक पुस्तक का बताया नाम मैंने तुम्हें,
न कि वे स्वयं कोई ऐयाशी करते हैं ।"

मैं भी लगा सोंचने कि यद्यपि जवान हूँ मैं
तो भी किसी भाँति की ऐयाशी मैंने की नहीं ।
होगो निरीह ये "दिमाग़ी ऐयाशी" सो मैं
क्यों न इससे ही शौक पूरा करूँ अपना ?

मामूली ऐयाशी में पैसा खर्च होता, किन्तु
पैसा पैदा होता है "दिमाग़ी ऐयाशी" से,
अर्थकरी पूरी साहित्यिको ऐयाशी है औ
पेशेवर साहित्यिक कमा भी ख़ूब लेते हैं ।

युग का साहित्य, और युग की पुकार है क्या ?
पेशेवर साहित्य-सेवियों से ज़रा पूछिए ।
लोगों की मनोवृत्ति के ही अनुकूल काव्य,
उपन्यास, लेख औ कहानी का लिखना है ।

उदर की ज्वाला से जवान जले जा रहे हैं ।
सिनेमा के तारे गिनते रातें उनकी कटती हैं,
उनके दिमाग़ों में नृपों की, पूँजीपतियों की
मोटरें भी चक्करें लगाया सदा करती हैं ।

जार्जेट की नीली, पीली, सोने की कोरदार
साड़ियों के पंखवाली तितलियों की फुदकन भी,
रूज-रंजित गाल और लिपस्टिक-रँगे ओंठ
उनके आधार दिवास्वप्नों के हैं हो रहे ।

बाघों से भयंकर ये तितलियाँ हैं उनके लिए !
बाघ तो समक्ष होने पर ही त्रास देता है !

किंतु किन्नरियाँ ये, न दिन में औ न रात ही में
बेचारे नवयुवकों को चैन लेने देती हैं।

उनका है दोष कहाँ, प्रकृति ने ही नैसर्गिक
भावनायें उनमें, उनसे बिना ही सलाह किये
की थीं उत्पन्न, जो कि त्रास उन्हें दे रही हैं।
'सैक्स रिप्रेशन' है समस्या घोर हो उठा !

किन्तु साहित्य, जो समस्या सुलझाता है ये,
उनका सब्लिमेशन है करता विज्ञान से,
बकरी के दूध-पेयी उसको हैं घासलेट
कहते, औ दिमाग़ी ऐयाशी बतलाते हैं !

सस्ती देशभक्तिपूर्ण, हलकी-सी कविता लिख
वाहवाही लूटना अमानसिक ऐयाशी है ?
समयानुसार तुकबन्दियाँ किसानों पै लिख
पैसे का कमाना क्या दिमाग़ी ऐयाशी नहीं ?

ग्रामगीत क्या हैं ? वे हमारे ग्रामवासियों की
स्वान्त:सुखाय ही दिमागी ऐयाशी हैं।
उनमें है प्रेम, घृणा, वेदना, कसक, पीर;
मानव के स्वस्थ प्रकृत उर के प्रतिबिम्ब हैं।

रुचि होती आई भिन्न है सदैव मानवों की,
पथ्य है किसी को भटा, बादी कभी होता है।
वैसे ही हमारे कुछ बादीग्रस्त लोगों को तो
आज शृंगाररस हानिकर हो रहा !

मानता हूँ करते हैं दिमाग़ी ऐयाशी कुछ
हिंदी-साहित्य-सेवी, किंतु वह कौन हैं ?
नाम लेना उनका शोभनीय नहीं मेरे लिए,
उनके कारनामे किंतु अंकित कुछ करता हूँ।

जिद्दत है करना और कोई नई बात लाना,
चाहे उसके सिर, पैर, नाक, कान हों नहीं।
किसी 'पपुलर' वाद के समर्थन में आँखें बन्द
करके कुतर्क करना, बनना अप-टु-डेट भी।

जैसे हिंदुस्तानी के समर्थन में कहना यह बात कभी,
मिस्र-देश-आगत जो ब्राह्मण वे ही मिश्र हैं!
अथवा शब्द "मै" का प्रयोग किया तुलसी ने
कहना यह, क्या नहीं दिमाग़ी ऐयाशी है?

वेद में निकालना बेतार का भी तार और
रेल और इंजिन का करना आविष्कार भी,
वायुयान का भी श्रेय देना आर्य ऋषियों को ही
मेरी सम्मति में तो दिमाग़ी ऐयाशी है?

सोलवीं सदी में राष्ट्रीयता की भावना को
भारत में देखना औ करना कल्पना भी ये
यहाँ के विभिन्न धर्मवाले दूध-शक्कर से
सदा से रहे हैं—ये दिमाग़ी ऐयाशी हैं।

कालिदास नाम का मनुष्य क्या हुआ था कभी?
जो था वो हुआ भी तो मराठा, बङ्गाली था?
कृष्ण ने क्या गीता-उपदेश भी दिया था कभी?
कृष्ण नाम का भी कोई व्यक्ति कभी जीवित था?

'सीता नोंक हलकी है,' 'राम नहीं वास्तव में
हुए थे कभी भी,' 'हनुमान तैरते हुए
पानी में डूबी चट्टानों का सहारा ले के
पार हुए सागर के,'—खोज अर्थहीन ये,

'वायु कौन लिंग?' 'दही मीठी या मीठा होता?'
'हाथी है आती या हाथी आता जाता है?'

'संज्ञा को विभक्ति से मिला के या कि दूर लिखें ?'
'अनस्थिरता शुद्ध या ये मूर्खता का लक्षण है ?'

ऐसी ही बातें कितनी सारहीन और व्यर्थ
जिनसे है किसीको कोई लाभ नहीं होने को
करते, मज़ा पाते इन व्यर्थ के विवादों में हैं
क्योंकि पण्डितों की ये दिमाग़ी ऐयाशी हैं ।

अधकचरा

[आज हिन्दी-साहित्य में कितने ही अर्ध-शिक्षित लोग समालोचना का काम कर रहे हैं। अवश्य ही विश्वविद्यालय में नियमपूर्वक प्राप्त का हुई शिक्षा पाण्डित्य के लिए आवश्यक नहीं है। पुराने पण्डित विश्वविद्यालयों की डिग्रियाँ प्राप्त किये बिना ही प्रकाण्ड विद्वान् होते थे, किन्तु न गुरु से सांगोपांग अध्ययन करते थे। हिन्दी-साहित्य का उचित आदर न होने का एक कारण यह भी है कि उसकी सेवा में बहुत-से ऐसे लोग लग गये हैं जो सरस्वती के वाहन का रूप बनाने के लिए उसके हंस के फड़फड़ाने से जो पर गिर गये हैं उन्हीं में से एक दो को खोंस के सरस्वती-वाहन होने का नाट्य करते हैं। इन अधकचरे 'विद्वानों' में न काव्य-विदग्धता होती है, न सहानुभूति, न विद्वत्ता और न गम्भीरता। किन्तु 'निरस्तपादपे देशे' कथन के अनुसार ये हिन्दी-कानन के एरंड वृक्ष चाहते हैं कि उनकी लकड़ी से हम उसी प्रकार की इमारतें बनावें जैसे साखू, शीशम और टीक से बनती हैं। इन अधकचरे समालोचकों ने हिन्दी-समालोचना का तल नीचा कर दिया है। आत्मविज्ञापन, सम्पादक मित्रों की कृपा, पुस्तक और लेख छपवाने की क्षमता, कम या अधिक शुद्ध हिन्दी लिख सकने की योग्यता, बड़े आदमियों के सर्टिफ़िकेट और साहस का बाहुल्य इनकी विशेषतायें हैं और ये ही इनके प्रधान अस्त्र हैं। यह कविता उन्हीं का स्तोत्र है।]

अधकचरा जो वैद्य मिले तो हानि प्रान की,
अधकचरा गुरु मिले यात्रा होय नरक की,
अधकचरा कुक मिले पेट में क्रांति करावे,
अधकच शोफर मिले पुलिस से भेंट करावे,
सब अधकचरों के वही लेकिन काटे कान,
अधकचरा साहित्य का होता जिसका ज्ञान।

तुलसी उससे डरें, सूर उससे घबरावें,
बूढ़े केशवदास विनय कर हा-हा खावें,
सुकवि विहारीलाल जान की खैर मनावें,
देव दबक कर रहें, न भय से सम्मुख आवें।
करे अनर्थ न अर्थ का यह भीषण विद्वान,
इस भय से हैं काँपते कवि-कोविद के प्रान!

जरायमपेशा साहित्यिकों का विचार

[पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी-भाषा के शब्दकोष को दो शब्द देकर उसकी श्रीवृद्धि की है। उनमें एक तो है 'घासलेट' और दूसरा 'जरायमपेशा साहित्यिक'। जरायमपेशा लोगों की देखरेख तो वे और उनके मित्र किया ही करते हैं, किन्तु जरायमपेशा साहित्यिकों के विचार का उत्तरदायित्व धर्मराज पर भी है। अतएव उनमें से कुछ लोग धर्मराज के समक्ष पेश किये गये हैं। मुंशी चितरगुपत साहब की बही में लिखी हुई बातें 'स्वतः प्रमाण' होती हैं। इसलिए वहाँ अभियुक्तों को सफाई देने का अवसर नहीं दिया जाता। 'जरायम' क्या हैं—इस विषय में धर्मराज ने पण्डित बनारसीदासजी से सलाह नहीं ली। मुन्शी चितरगुपतजी ने अपने दृष्टिकोण से 'जरायमों' का उल्लेख किया है। यमराज ने जो दण्ड दिये हैं वे अवश्य ही कड़े हैं। मैं दण्डित महानुभावों को विश्वास दिलाता हूँ कि सारी हिन्दी-प्रेमी जनता को उनसे समवेदना और सहानुभूति है। जो जरायमपेशा साहित्यिक बच गये हैं उन्हें बधाई है, किन्तु भविष्य की बात भविष्य ही जाने।]

एक दिन संध्या के समय यमलोक में
रोज़ से अधिक कुछ भीड़-भाड़ थी वहाँ ।
प्रेत और प्रेतिनी, पिशाच और पिशाचिनी
सभी चले जा रहे थे मंडप की ओर को।

मंडप बनाया था स्वयं ही मय दानव ने,
खंभे वैदूर्य के थे जिनमें जड़े लाल थे,
साँपों की झालरें थीं मगरों की टोड़ियाँ थीं,
बिच्छुओं के लटकनों से शोभित सभा मंडप था ।

नीलम का ऊँचा सिंहासन एक बीच में था,
जिस पर पद्मासन से विराजे धर्मराज थे ।
डंडे और फाँसी लिये, विकृत मुखाकृति के
नीले, पीले, काले यमदूत उन्हें घेरे थे ।

सिंहासन के नीचे—कुछ दाहिने झुके से हुए—
मुंशी चितरगुपत जी विराजमान थे वहाँ ।
कान पै सुशोभित कलम थी पुरानी एक,
सामने ही लम्बी एक बही वह खोले थे ।

पीछे यमदूत एक, काजल की मूर्ति ऐसा,
एक ताड़ वृक्ष लिये पंखा भी झलता था ।
भैंसा भी पुराना, जो कि वाहन यमराज का है,
कानों को हिलाता, बैठा, पागुर-सा करता था ।

बोले धर्मराज मेघगर्जन-सी वाणी से—
"मुँशीजी ! आज यह समारोह कैसा है ?
मृत्युलोक से क्या कोई मानव विशेष आया ?
प्रेतों में कुतूहल की बाढ़ कैसी आई है ?"

मुंशी चितरगुपतजी ने ऐनक को ठीक कर,
बाँध कर दोनों हाथ, धर्मराज से कहा—
"हिन्दी के जरायमपेशा साहित्यिक आज कुछ
धर्ममूर्ति के समक्ष पेश होने को हैं ।"

बोले धर्मराज—"हाँ, अवश्य उन्हें पेश करो ।
मैंने भी पढ़ा था किसी हिन्दी के ही पत्र में,
हिन्दी ही भाषा एक ऐसी है कि जिसके स्वयं
साहित्यिक जरायमपेशा करना मान लेते हैं ।

उत्सुक हूँ मैं भी उन्हें देखने को थोड़ा-सा,
लाओ, उन्हें देखूँ, वे दर्शनीय होंगें ही ।"

कहके 'जो आज्ञा' मुंशी चितरगुपत साहब ने,
बुड्ढा यमदूत उन्हें लेने को रवाना किया।

बोले चित्रगुप्तजी कि "जो ये महाकायजी हैं
हिन्दी में ये ही श्री निराला कहलाते हैं।
सिर पर सदा ही रख सवा सेर बाल लंबे,
वर्स लिब्रे, यानी छंद केंचुआ, सुनाते हैं।

"इनका है जुर्म—यह लिखते कुछ ऐसा हैं कि
अनमिल अक्षरों के मन्त्र बन जाते हैं।
चौबे श्री बनारसी सरीखे विद्वानों को भी
रुपया पचासवाला कोष लेना पड़ता है।

"गद्य भी इनका बद्रीनाथजी का रस्ता है
जिसको तै करना टेढ़ी खीर-सा कठिन है।
इनके 'वर्तमान धर्म' के भी अर्थ जानने के लिए
रुपये पूरे सौ का इनाम हुआ घोषित था।

"यही नहीं, एक 'मतवाला' के द्वारा ये
हिन्दी-लेखकों की मरम्मत किया करते थे।
कविता-कामिनी को मुक्त कर इन महात्मा ने
उसे ऐरों-गैरों की भी प्रेयसी बना दिया।"

बोले धर्मराज—"अपराधी बड़े सत्य हैं ये।
घुटवा के बाल, इन्हें सत्रह साल रखिए।
इनसे बनवाओ देहातियों के बिरहा छंद
भाषा हो जिनकी ऐसी मूर्ख भी समझ लें।"

"ये जो महाशय समक्ष धर्मराज के हैं"
बोले नतमस्तक हो मुंशीजी अदब से,
"हिन्दी-संसार में श्री पंतजी के नाम से ये
कोमल पदावली के कवि माने जाते हैं।

"इनका अपराध धर्ममूर्ति ! संगीन बड़ा !
ईश्वर ने मर्द का स्वरूप इन्हें था दिया ।
विधि के विधान में सुधार करने के लिए
नारी रूप धारण इन्होंने किन्तु था किया ।

"पुरुष और स्त्री हैं पूरक एक दूसरे के,
किन्तु इन्हें अपने में ही पूर्णता का भान था ।
रेशम से घने और लहरे से बाल रख*
नन्दिनी का नाम हुआ सार्थक था इनका ।

"अपनी कविता में शृंगार कर ओत-प्रोत
व्रज के पुराने भक्त कवियों को कोसा था ।†
उन्हें था सँपेरा कहा, आपकी बहिन को भी‡
नदी संकीर्णता का घोषित कर डाला था ।

"किन्तु उर्दू नायिकाओं-नायकों के ढर्रे पर
निकले बड़े बेवफा हमारे कवि पंत जी ।
अपनी कांत-कोमल-पदों की प्रेयसी को छोड़
बुड्ढे कार्ल मार्क्स से ही नाता जोड़ बैठे ये ।"

भृकुटी कर कुंचित, गंभीर-धीर वाणी से यों
बोले यम—"अच्छा ! यमुना भी संकीर्ण है ?

---

* श्री पंतजी की एक प्रसिद्ध कविता का आरम्भ है—"घने लहरे रेशम से बाल, धरा है सिरपर मैंने देवि ! तुम्हारा यह स्वर्गिक शृङ्गार !"

† अपनी प्रसिद्ध पुस्तक पल्लव की भूमिका में व्रज के कवियों के विषय में श्री पंतजी ने लिखा था—"अधिकांश भक्त कवियों का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने में समाप्त हो गया, बीच में उन्हीं की संकीर्णता की यमुना पड़ गई ।······ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलों में छिपे हुए वासना के विषधरों को छेड़ छेड़ कर नचाने लगी !"

‡ यमुना यमराज की बहिन है ।

स्वामी हरिदास, सूरदास भी सँपेरे हैं क्या ?
मुंशी ! यह कवि देखने में तो बड़ा अच्छा है !

"बाल घुटवा दो ! इसे बीस साल पर्यन्त
यमुना के किनारे कहो रहै, औ नहाया करे ।
रात-दिन भक्तकवियों की पदावली गावे और
तीन देव बालाओं से विवाह करो इसका ।"

"ये जो श्वेत वस्त्र से सुशोभित महाशय हैं
राम के नरेश हैं, त्रिपाठी सरवरिया हैं ।
हिन्दी-संसार में ये एक ही महानुभाव
जिसने यश लूटा मार कृतिरूपी लाठी को ।"*

पीछे से चिल्लाकर बोले कवि शंकरजी
"मैंने भी लिखा है यही, बात बिलकुल ठीक है ।"
ठिठके मुंशी चित्रगुप्त, सुनकर यह कोलाहल,
बही को सँभाल फिर आगे कहने लगे—

"इनसे कहा था भगवान ने कि 'पण्डित जी !
सारा संसार एक आँख से ही देखिए ।'
पूरा उद्योग इस बात का किया था औ
ये गांधी, आई० सी० एस० एक दृष्टि से थे देखते ।†

---

*स्वर्गीय श्री नाथूरामशंकर शर्मा ने त्रिपाठीजी की एक पुस्तक की समालोचना करते हुए लिखा था—

पण्डित रामनरेश त्रिपाठी
लूटा सुयश मारि कृति लाठी ।

† त्रिपाठीजी ने अपनी पुस्तकों पर एक ओर महात्माजी आदि की और दूसरी ओर कई विद्या-व्यसनी आई० सी० एस० अफसरों की सम्मतियाँ प्रकाशित की थीं ।

"किंतु कवियों के मामले में अन्याय किया,
हिंदी के प्रायः सभी वर्तमान कवियों की
निष्ठुर हो, खूब ही इन्होंने है मरम्मत की
इतनी, कि घावों का पुरना कठिन है।"*

"और मिश्र ब्राह्मणों को मिस्र का निवासी कहा †
'मैं' का प्रयोगकर्त्ता तुलसी को बताया है। ‡
रोटी भी पराई है बताई हिंदू लोगों की औ
प्लेग का शिकार तुलसीदास को बनाया है।" §

बोले यमराज—"कहो इनसे कि बीस साल
गाँवों के नमूने ये बना करके दिखाया करें।
गावें ग्रामगीत बीस बार नित्य बंधी से औ π
कवियों की प्रशंसा लिख पत्रों में छपाया करें।"

---

* अपनी कविताकौमुदी के आधुनिक युगवाले भाग की भूमिका में त्रिपाठीजी ने वर्तमान हिन्दी-कवियों की बड़ी कड़ी समालोचना की है।

† हिन्दुस्तानी एकाडमी के पत्र 'हिन्दुस्तानी' में त्रिपाठीजी ने कई वर्ष हुए एक लेख लिखा था जिसमें उन्होंने बतलाया था कि हिन्दी में बहुत-से विदेशी शब्द आ गये हैं। उन्होंने बहुत-से उदाहरण भी दिये थे। यह भी लिखा था कि मिश्र ब्राह्मण वे हैं जो मिस्र देश से आये थे।

‡ काशी-नागरी-प्रचारणी सभा में एक बार व्याख्यान देते हुए उन्होंने कहा था कि तुलसीदासजी ने भी अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग किया था। उदाहरणस्वरूप उन्होंने बतलाया कि रामायण में 'मै' शब्द (जिसका अर्थ शराब है) आया है।

§ त्रिपाठीजी ने अपने तुलसीदासजी के जीवन-चरित्र में लिखा है कि गोसाईंजी प्लेग से मरे थे।

π त्रिपाठीजी ने 'नमूने के गाँव' नामक एक पुस्तक लिखी है।

"श्रीविनोद शर्मा है नाम इस मानव का"
बोले चित्रगुप्त, "यह कवि है न पण्डित है,
रंचक साहित्य का तो ज्ञान इसे है भी नहीं
किंतु टाँग अपनी साहित्य में अड़ाता है।

"इसके अपराधों की गिनती नहीं होने की है;
त्रलियानिवासी श्री ज्योतिष आचार्यजी की
लोचनी-करेला का, जो आधुनिका नायिका है,
इसने मखौल हिंदी पत्रों में उड़ाया था।

"श्रीयुत बनारसीजी जो एक चतुर्वेदी हैं,
उनके भी पीछे हाथ धोके ये पड़ा ही था।
और तो और, महामंत्री सम्मेलन को भी
इसने तंग करने में शान बड़ी मानी थी।

"सम्मेलन-सेवक पण्डित बाबूराम शर्मा को
—जो कि मेरे वंश सकसेना के रत्न हैं—
इसने कटाया मच्छरों से और डाँसों से है,*
निंदा करने में पूरा सिंगर मशीन है!"

"अच्छा! बात ऐसी है? बड़ा ही यह शातिर है!
इसको आदर्श दण्ड देना ही उचित है।"
यह कह विचार यमराज करने लगे औ
बोले कुछ देर बाद मुंशी चित्रगुप्त से—

"रखकर समक्ष में करेला-लोचनी को ये
बीस साल नित्य पाँच कविता लिखा करें
जिनमें हो प्रशंसा श्री प्रधान बाबूरामजी की
और जो बनावे नहीं, काटें खटकीरा इसे!"

---

* देखिए 'अप्रकाशित लाउडथिंकिंग।'

बोले चित्रगुप्त, आज अंतिम अपराधी हैं ये,
चूड़ीपुरीवासी चौबे पण्डित बनारसी ।
इनका है पेशा जरायम पैदा करना और
साहित्यिक जरायम ही पेशा कुछ इनका है ।

"भाषा ज्ञान इनका है इतना कि एक बार
'वर्तमान धर्म' का समझने को यथार्थ अर्थ
'भारत विशाल' में इनाम शत मुद्रा का
घोषित किया था मए अपने एक लेख के ।*

"इन्द्र महाराज के जीमूत एक वाहन हैं†
किन्तु उन्हें खोजते थे चौबेजी कोश में !
सो भी उस कोश में——पचास रुपये का जो कि
काशी की नागरी सभा में अप्राप्य है ।

"फिर भी ये फतवा दे डालते तुरंत ही हैं—
'खाक भी नहीं है श्री निरालाजी के काव्य में ।'"

---

* श्री निरालाजी ने 'वर्तमान धर्म' नामक एक लेख लिखा था। पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने विशाल भारत में उस पर टीका करते हुए लिखा था कि वह ऐसा अव्यवस्थित लेख है कि उसका अर्थ समझ में नहीं आ सकता, और यदि कोई उसका अर्थ समझा दे तो उसे मैं सौ रुपया इनाम दूँगा ।

† श्री निरालाजी की कविता की आलोचना करते हुए पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने इस बात की शिकायत की थी कि निरालाजी बहुत दुरूह और अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया करते हैं । उदाहरण के रूप में उन्होंने लिखा था कि मैं उनकी एक कविता में 'जीमूत' शब्द का अर्थ नहीं समझ पाया । साधारण कोशों में वह शब्द मिला भी नहीं । उसके लिए बाबू श्यामसुन्दरदास के पचास रुपयेवाले कोश को देखना पड़ा ।

और इनकी दृष्टि में विकार कुछ आगया है
घासलेट ही है इन्हें हिन्दी में दीखता ।

"गाते राग देश का हैं—फिर्पो की रोटी खाके,*
चाहते नियंत्रण—अराजक हो—देश में ।†
थोरो, क्रोपाटकिन, ऐमर्सन के उद्धरण
फेंकके हैं पाठकों पै रोब सदा झाड़ते ।

"और हिन्दुस्तानी का करते प्रचार हैं ये,
आलू के पेड़ से भी परिचय न इनका है ।
बुलबुल-चंडूल का है ज्ञान नहीं इनको, किन्तु
फतवा ये फौरन से पहले दे देते हैं ।" ‡

"अच्छा !" यमराज बोले "चायवाली भैंस का ले
आलू के वृक्ष की छाया में रहा करें ।
'वर्तमान धर्म' के मुताबिक मट्ठे बैलों को
जोतें, और भाँग की भी खेती ये किया करें ।

"और पाँच साल ये सबेरे से संध्या तक
श्रीयुत निरालाजी की 'राम की शक्ति पूजा,'
संध्या से सबेरे तक उनहीं का 'तुलसीदास'
बिना ऊँघे, नित्य औ निरंतर पढ़ा करें ।"

---

* पं० बनारसीदासजी ने एक बार लिखा था कि अपने कलकत्ते के प्रवासकाल में मैं वहाँ के प्रसिद्ध होटल फिर्पो (Firpo) के यहाँसे डबल रोटी मँगाकर खाया करता था क्योंकि वह मुझे अनुकूल पड़ती थी ।

† पं० बनारसीदासजी अपने को सिद्धान्ततः अराजक या अनारकिस्ट कहते हैं । अनारकिस्टों का कहना है कि गवर्मेण्ट अनावश्यक है ।

‡ देखिए 'एक अदबी ख़त' और 'आलू का वृक्ष' ।

महाश्वेता

[भाई सोहनलाल द्विवेदी एम० ए० ने वासवदत्ता नाम की एक बहुत सुन्दर कविता लिखी है । उसकी कथा यह है कि जब भगवान् बुद्ध भिक्षा मांगते हुए देश में भ्रमण कर रहे थे उस समय—दो हजार वर्ष से भी अधिक हुए—किसी नगर में वासवदत्ता नामक एक वेश्या रहती थी। बुद्ध थे तो राजकुमार ही, वह उन्हें देखकर उनपर मुग्ध हो गई और उसने उनसे निवेदन किया कि आप मेरे यहाँ अतिथि होकर रहें। इस प्रस्ताव से भगवान् बुद्ध अकचका गये । उन्होंने कहा—"आज नहीं, फिर कभी जब तुम्हें मेरी आवश्यकता होगी तब मैं तुम्हारा अतिथि बनूंगा ।" इसके बहुत वर्ष बाद, जब वासवदत्ता बूढ़ी हो गई, उसको नाना प्रकार के रोग हो गये और जब नगरवासियों ने उसे नगर से निकाल दिया तब भगवान् बुद्ध उसके पास गये और उन्होंने उसकी शुश्रूषा की । यह कविता अत्यन्त हृदयग्राही है किन्तु वह तो घटना थी दो हजार वर्ष पहले की । आज की अवस्था को भी छंदोबद्ध करना आवश्यक है । कादम्बरी की महाश्वेता ने मानों इस युग में जन्म लिया है । साथ ही उसके प्रेमिका पुण्डरीक ने भी । दोनों की मुलाकात प्रयाग के रिजेन्ट सिनेमा में हो जाती है । फिर जो कुछ हुआ, वह इस कविता में पढ़िए । श्री सोहनलालजी की कविता की कुछ पंक्तियाँ जहाँ-तहाँ ले ली गयी हैं । यह उन्हें मालूम है । 'वासवदत्ता' कविता के आरम्भ की पंक्ति है—"आज से बहुत पहिले की कहता हूं बात, जब कि भारत में छा रहा था सत्ययुग का स्वर्णिम प्रभात ।" इस कविता का आरम्भ भी उसीके वजन पर किया गया है ।]

आज से कुछ दिन पहले ही की कहता हूं बात
जब कि
पाश्चात्य सभ्यता का फैला था लोहित प्रभात !
उस समय
नगर-नगर
शहर-शहर
डगर-डगर में
छा रहा था हॉलीउड की कला का चित्रिल प्रकाश !
जब कि थी अपनी नहीं कला,
नहीं था अपना
देशी आमोद'
जब कि शिक्षित भारत हो चुका था
पश्चिम का मानस-पुत्र ।
उस समय देश में दीप भी न अपने थे,
मँगनी का प्रकाश था विदेश-जायी बिजली का,
जिसके प्रकाश से,
आँखों में हमारी थी चकाचौंध आ रही ।

उन्हीं दिनों—
एक दिन, सेकेन्ड शो के बाद
जब कि माधवी लता के फुल्ल कुसुमों से परिमल ले
बहता था गन्धवाह।
फूली थी चमेली, चम्पा, मालती, जुही की कली,
दूरवर्ती म्यूनिसिपल लैम्पों के बीच में धुँधला-सा अँधेरा था,
पेड़ों की छाया में, बिजली से दूर, जहाँ
अवसर था प्रेयसी के हाथों के दबाने का,
अंगों से अंगों के सटाने का,
रीजेन्ट सिनेमा* के भीतर से निकली महाश्वेता—
फण से ज्यों निकली हो सहस्र रश्मिवाली मणि!

सुषमा की प्रतिमा वह तरुणी दिवांगना-सी,
कवि-कल्पना-सी,
विधि की अनूप रचना-सी,
सुन्दरी—जागृत अभिलाषा-सी,
मादक मदिरा-सी,
मोहक इन्द्र धनु-सी।
आँखों से जादू-सी फेरती,
उन्नत कुच-कलशी को अञ्चल से ढकती-सी,
रसिक मिलिन्दों को आकर्षित करती-सी,
उनके हृदयों को नैन कैंची से कतरती-सी,
निकली वह तन्वी महाश्वेता—
और चढ़ साइकिल पर वह पूर्व को चली गई।

देखा पुण्डरीक ने!
पी रहा था उस समय वह कोने की दूकान पर
आइस मिला लेमन-स्क्वाश।

---

*प्रयाग का रिजेन्ट सिनेमा।

स्वर्णिम थे बाल पर्मंगनेट की कृपा से,
जो भीतरी दिमाग की तरह ही अस्त-व्यस्त थे ।
ज़िप को थी गञ्जी,
पतलून मक्खन जीन की थी ।
पैरों में सैण्डल थे पेशावरी चाल के ।
पेट और वक्ष-स्थल में कौन अधिक अन्तर्मुख ?—
इसका भी निर्णय ठीक करना कठिन था ।
रंग गेंहुआँ था,
और नाक पर अमरीकन हॉर्नरिम्ड-चश्मा
शोभायमान हो रहा ।

देखा महाश्वेता को
ज्यों ही पुण्डरीक ने,
बाहर की साँस रही बाहर, और
भीतर की बाहर न निकल पाई ।
लाठी खाके श्वान जैसे धराशायी होता है,
उसका हृदय ठीक वैसे धराशायी हो गया ।
चाबुक खाने से जैसे घोड़े को है आता जोश,
वैसे तुरन्त ही उठाई उसने साइकिल,
फेंक कर लेमन-स्क्वाश,
पीछे महाश्वेता के
द्रुत गति से पुण्डरीक साइकिल पर हो लिया ।

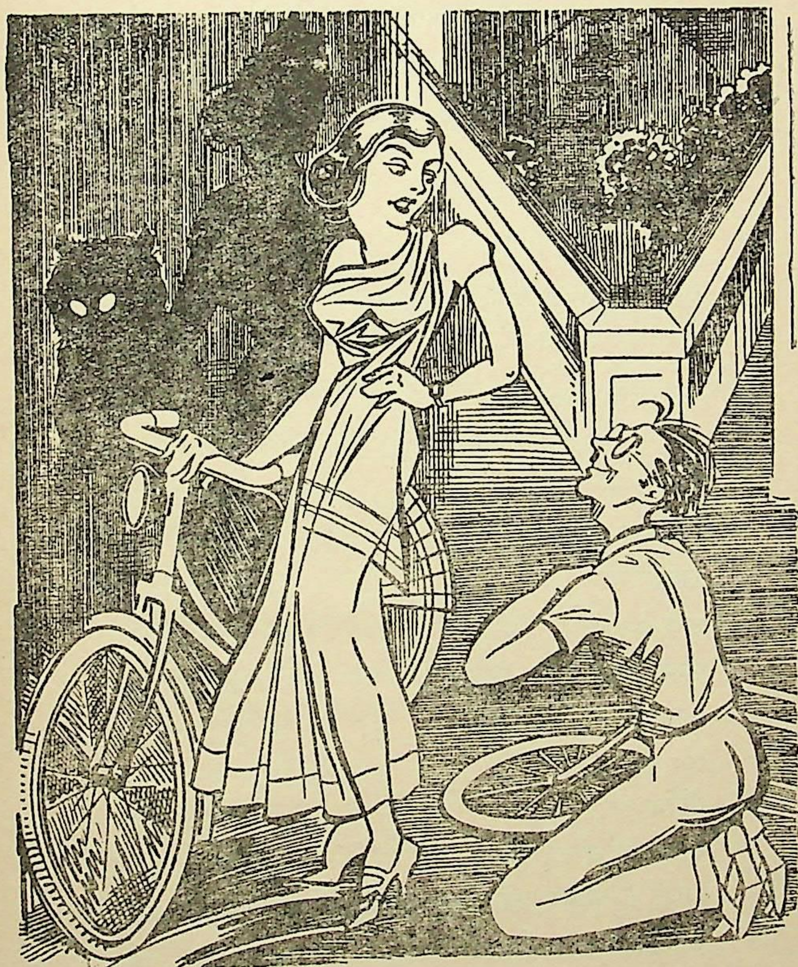
नगर हमारे के स्वनामधन्य नेता के नाम पर
पार्क जो तिकोनिया बना हुआ ।*
पहुँचके वहाँ पै वह बोला महाश्वेता से
"रुकिए श्रीमती जी ! मुझे तुमसे कुछ कहना है ।"
रुकी महाश्वेता ।

---

*पुरुषोत्तमदास टंडन पार्क

उतरी अपनी साईकिल से वह ।
लेकर सहारा वह अपने उस वाहन का
ऐसे खड़ी हो गई कि मानो
बृहद उल्लू का लेकर सहारा
क्षीरतनया खड़ी हो वहाँ !

आतुर पुण्डरीक ने
फेंकी निज साइकिल
और बैठा घुटनों के बल,
देवी की अर्चना में भक्त जैसे बैठा हो,
बोला--
"यौवन यह अर्पित पद-पद्म में है ।
इसे स्वीकार करो;
यह न तिरस्कार करो ।
रूप यह,
यौवन यह,
जिसे प्राप्त करने को
अपनी कन्याओं के लिए
कितने कलक्टर और डिप्टी कलक्टरों ने,
कितने ही रईसों और धनी जमींदारों ने भी,
कितने ही सिविल-सर्जनों ने,
कितने ही मुंसिफों ने,
कितने ही वकीलों ने,
कितने ही जजों ने
चक्कर हैं काटे मेरे पिता के घर के ।
मुद्रा सहस्रों, बाग, बँगले, बगीचे, कोठी,
लन्दन में मेरे पढ़ने का भी पूरा-पूरा व्यय
देना वे चाहते थे,
जिससे वे मुझको बना करके जामाता
धन्य जन्म अपनी प्रिय दुहिता का कर सकें ।
क्योंकि मैंने पास की है बी० ए० की परीक्षा देवि !

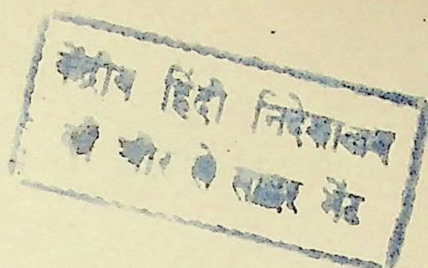


सो भी फ़र्स्ट क्लास में,
आई० सी० एस० होना मेरे लिए एक खेल है !
जाति नहीं पूछता हूँ,
पाँति नहीं पूछता हूँ,
रत्न और महिला की जाति कौन होती है ?
दोनों ही चमकते हैं अपनी ही द्युति से।
अर्पित है यौवन यह
अर्पित कैरियर है यह।
प्रणय निवेदित है,
हृदय निवेदित है,
करो स्वीकार मुझे
तृप्ति वरदान मुझे !
तप्त उर शीतल करो गाढ़ परिरम्भन दे !"

महाश्वेता देखकर,
कौतुक यह लेख कर
चकित-सी
विस्मित-सी
भ्रमित-सी
अवाक्-सी
लगी देखने सभी लीला
पुण्डरीक की,
रूप की,
यौवन की,
यौवन के आग्रह की,
प्राणों के कम्पन की, सिहरन की, तड़पन की, धड़कन की !
उसे फिर आया रोष,
और
ओंठ लगे कँपने
नथुने गये फूल औ कपोल हुए दोनों लाल,

आँखों से ऐसी चिनग़ारी लगी छूटने
जैसे कोहनूर दो से आभा फूट निकली हो !
क्रुद्ध हो बोली महाश्वेता पुण्डरीक से—
"मूर्ख ! क्या कहते हो ?
सावधान हो के जरा सोचो तो
कहते क्या ?
किससे फिर ?
डिग्रियों के सिक्कों से हुआ है कहीं भी क्रय
नारी के हृदय का ?
माँगते प्रणय का दान ?
कहते हो शिक्षित हो ?
प्रणय तो तुम्हारे लिए मूली का सौदा है !
प्रयण जो करते हो,
नखरे भी सहने तुम्हें होंगे तो जरूर ही,
विमुख करूँगी नहीं तेरे अनुरोध को,
दूँगी मैं अवश्य दान,
दान यह लेता जा।"
कहके महाश्वेता ने
पैर से उतारे तीन इञ्च ऊँची एड़ीवाले
बाटा के बनाये निज सैण्डल तुरन्त ही,
और पुण्डरीक के
अस्त-व्यस्त बालों को,
उनके प्रहार से
अति दुर्निवार से
और अधिक अस्त-व्यस्त उनको था बना दिया !
और फिर तुरन्त ही
चढ़ साइकिल पर वह
अन्तर्धान हो गई !
कण्ठ भर आया बेचारे पुण्डरीक का !

मस्तक धर,
हृदय धर,
लज्जा और मान धर,
जड़-सा बना बैठा रहा
बोल कुछ पाया नहीं।
सहलाता रह गया
बेचारा वह सड़क पर
प्रेयसी-प्रताड़ित सुभाग्यशाली खोपड़ी को,
और जिस ओर थी गई वह, उसी ओर
रह गया निहारता
टुकुर-टुकुर
टुकुर-टुकुर !



एक प्रगतिशील कवि की बेलगाम विचारधारा

[एक बार एक हिंदी के एक लब्धप्रतिष्ठ आधुनिक कवि ने हमारे स्थान पर पधारने की कृपा की। हिंदी पाठकों की रुचि की समालोचना करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा उसका आशय यह था कि आधुनिक पाठक कवियों के साथ न्याय नहीं करते। उन्हें तुलसीदास के समान 'घिसी-पिटी' कविताओं में अब भी आनन्द आता है। उन्होंने तुलसीदासजी के लिए 'घिसे-पिटे' शब्द का कई बार उपयोग किया। वह हमें कुछ अच्छा नहीं मालूम हुआ, किन्तु संकोचवश——या उनकी महानता से डर कर, कायरता के कारण—हमें उनका प्रतिवाद करने का साहस नहीं हुआ। हम चुपचाप उनके विचार सुनते रहे जिनके अनुसार आधुनिक कवि को केवल आधुनिक सिद्धान्तों और विचारों का संदेशवाहक होना चाहिए। उन्होंने इस बात पर भी खेद प्रकट किया कि पुराने कवि जनता पर इतने छाये हुए हैं कि उनके कारण आधुनिक कवियों को उचित आदर नहीं मिल पाता। जब वे चले गये तब हम बहुत देर तक उनके दृष्टिकोण से स्थिति पर विचार करते रहे, और उस समय कुछ और कार्य न होने के कारण हमने उन विचारों को पद्य में शृङ्खलाबद्ध कर डाला। उन्होंने तो ये सब बातें इन शब्दों में नहीं कहीं थीं, किंतु जो कुछ उन्होंने कहा था उसमें हमें यही ध्वनि सुनायी पड़ी। प्रत्येक आधुनिक कवि के ये विचार नहीं हैं। आधुनिक कवियों में कितने ही ऐसे हैं जो तुलसादासजी को 'घिसापिटा' नहीं समझते और न मार्क्स और फ्रॉयड को ही कविता का एकमात्र आधार मानते हैं। अतएव यह कविता केवल उन्हीं-को लक्ष्य करके लिखी गयी है जो इन विचारों के हैं।]

Narib Singh Marhas
Vill- Marchangi
P O Khour
(Akhnoor)

मैं बहुधा सोचा करता हूँ—हो कैसे मुझको ख्याति प्राप्त ?
जनता में तुलसी के समान हो कैसे मेरा नाम व्याप्त ?

राघव कुल तो हो गया अस्त,
यादव कुल भी हो गया नष्ट,

चालुक्य और कूशानों के तो नाम हो गये कालग्रस्त !
रह गया मात्र इतिहासों में स्वर्णिम-युगवाला राज्य गुप्त,
खरवेल, चेदि, चन्देल आदि के नाम हो गये आज लुप्त ।
बीते पठान, मिट गये मुगल, चल बसे जाट औ राजपूत,
कितने राज्यों के खँड़हर में है समय नाचता बना भूत !
भारत के दैनिक जीवन में उनका अब है आतंक नहीं,
अकबर, अशोक, औरंगजेब से कोई आज सशंक नहीं ।
वह तुगलक शाह मुहम्मद जो, जिसके भय कँपते राव-रंक,
उसको ही चौक चाँदनी में पागल कहते सब हो अशङ्क ।
जनता का हृदय गुलामी से इन लोगों की हो गया मुक्त,
इनके प्रभाव से सभी लोग तो आज हो रहे हैं विरक्त,

जनता ने किंतु नहीं पायी
मानसिक मुक्ति, जो सुखदायी ।

हाँ, वाल्मीक औ व्यास आज भी मरकर जीते जाते हैं,
हा हन्त ! चार सौ साल बाद तुलसी जीवित दिखलाते हैं !

घिस गये ग्रन्थ यद्यपि इनके
घिस गये भाव यद्यपि इनके
घिस गये सभी आदर्श जो कि वे जनता को बतलाते हैं!
फिर भी जनता हो रही भ्रान्त,
वह इनको पढ़कर रहे शान्त,
इनकी तुलना में जनता को हम हाय! न तनिक सुहाते हैं।
कैसे स्थानच्युत करूँ व्यास?
कैसे बैठा दूँ कालिदास?
कैसे नत कर दूँ सूरदास?
कैसे लेटा दूँ तुलसिदास?
इन घिसे-घिसाये लोगों को कैसे जनता से करूँ दूर?
हाँ, आज भुलाने ही होंगे तुलसी, मीरा औ व्यास, सूर!
(पर मुसीबत है कि)
उनकी कृतियों में भरे हुए उनके संदेश पुरातन हैं,
उनके जीवन आदर्श परम शिव भी, और सनातन हैं,
उनके काव्यों की सुन्दरता, साधना, तपस्या, अन्वेषन,
उनका जीवन का दृष्टिकोण निर्लिप्त, गहन वह पठन-मनन
क्या मुझसे संभव होना है?
बस इसी बात का रोना है
मैं मर जाऊँ पर उन लोगों की बात न मुझ में आवेगी!
पर, महर्षिवर मार्क्स कह गये जीवन है संघर्ष
इसमें वही विजय पाता है, हो उसका उत्कर्ष
जो कल, बल, छल से लेता हथिया जग की शक्ति,
हम श्रमिकों को नहीं चाहिए—ज्ञान, कर्म औ भक्ति!
रोटी! रोटी! रोटी!
और साथ में बोटी!
सर्वाहारा भूख हमारी, हमें चाहिए कार (Car),
बँगला, सुरा (ग़लत ग़म करने) औ विश्राम अपार।

क्योंकि कला की उन्नति के हैं हम ही ठेकेदार,
औ लेज़र (leisure) के बिना कला का हो न सके उद्धार !
औ महर्षि फ्रायड का कहना, यह भी रखना याद,
सैक्स (sex) बड़ा ही घोर सत्य है, यह नवीन रस-वाद

उसके रिप्प्रेशन (repression) से
बनते लोगों में कम्प्लैक्स (Complex)
हमें इसलिए फ्रीडम होवे इन मैटर्स आव सैक्स !
ब्रह्मचर्य ? पातिव्रत ? ये सब बूर्जुआजन के बोगी (bogey)
योगी आउट आफ डेट, क्लिअर-हैडेड
(clear-headed) हैं केवल भोगी !

केवल सत्य यही दो भूख !
इन्हें बुझाने में मत चूक !

यह सन्देश सनातन लेकर आये हैं हम लोग
किन्तु प्रचारित करने का तब हो सकता संयोग—
जब ये बुर्जुआ और प्रतिक्रियवादी कवि प्राचीन
तुलसी, सूर आदि हो जावें जग से तेरह-तीन !

किन्तु कठिनतम है यह काम !

भारत के जनगण तो इनके हाय ! बने हैं हुए गुलाम !
रामायण, गीता छुड़वाऊँ ! रह जाता धुनि सीसा,
लोग छोड़ते नहीं यहाँ तो हा ! हनुमान-चलीसा !

प्रभु ! तुमको देता धन्यवाद

जीवन में बड़े-बड़े ख़तरे हैं। कुछ खतरे तो 'देह धरे' के दण्ड हैं जिनका सामना मनुष्य को प्रत्येक युग में करना पड़ा है, किंतु कुछ खतरे उस ख़तरनाक युग की विशेषता हैं जिसमें हम पिछले चालीस-पचास वर्षों से रह रहे हैं। चालीस वर्ष की अवस्था तक जीवित रहना, और फिर भी इन ख़तरों से बचे रहना केवल भगवान् की विशेष कृपा और अनुकम्पा से ही संभव है जिसके लिए उन्हें (भगवान् को) धन्यवाद न देना घोर कृतघ्नता होगी। इस कविता को पढ़कर आपको मालूम होगा कि वे ख़तरे कौन से हैं जिनसे चालीस वर्ष की अवस्था तक बचे रहने का सौभाग्य लेखक को प्राप्त हुआ, और जिसके लिए उसने भगवान् को धन्यवाद दिया है।

इक्यास

[१]

बारह बज करके बीस मिनिट पर चालिस का हूँ हुआ आज !
मेरे सौंदर्य सलोने को लख कामदेव को लगे लाज,
पर किसी शिकारिन ने अब तक मुझको न बना पाया शिकार,
कोई मृगनैनी ले न सकी मेरे दिल को क्षण भर उधार !
मुझको गिनने न पड़े तारे, जग जग कर सारी रात-रात,
प्रमिल कविता मैंने न लिखी, न लिखे हैं मैंने प्रेमपात !
छनती गहरी है सुबह-शाम, लाती बेफिक्री सदा भंग
सब रोग-दोख हैं बह जाते जब आती है उसकी तरंग !
डटकर मैं भोजन करता हूँ, सोता हूँ लम्बी तान तान,
जंगल के निर्भय हाथी सा, प्रेमांकुश का मुझको न ज्ञान ।
अबलाओं और बलाओं से बच पाया अब तक निर्विवाद,
उनसे प्रभु ! मुझे बचाने को हैं तुम्हें अनेकों धन्यवाद !
बारह बज करके बीस मिनिट पर चालिस का हूँ हुआ आज !

[२]

यद्यपि इण्टैलिजेंसिया क्लास का हूँ, मैं हूँ बुर्जुआ भीषण महान,
पर स्टालिन की आगपू का मैं अब तक न हुआ देखो निशान।
स्थानीय तवारिश सारे हैं ये अभी दंत-नख-हीन बाघ,
जिससे मैं अब तक जीवित हूँ, न गया स्वदेश से कहीं भाग।
ऐण्टी-फासिस्ट पुराना हूँ, मुझ पर न चला नाज़ी चक्कर;
झख मारा करते मुझे देख कितने हिमलर, कितने हिटलर।
देखो, मैं अब तक बचा हुआ, गेस्टापो रहता दाँत पीस,
कन्सैन्ट्रेशन कैम्प न देखे हैं, अब भी धड़ पर है लगा शीश।
मैं मुसोलिनी का घोर शत्रु, पर फिर भी मुझको ब्लैकशर्ट
रेंड़ी का तेल न पिला सके, कर सके न मुझको तनिक हर्ट।
छानता भंग मैं रोज़ रहा, खद्दर पहिने मेरी बलाय !

पर मेरे द्वारे हुई नहीं बल्लमटेरों की हाय ! हाय !
सी० आई० डी० वालों की भी मैं कृपादृष्टि से रहा हीन,
घर की न तलाशी हुई कभी, न लगा सेक्शन उन्तिस नवीन
इन सब भीषण विपत्तियों की जब आती मुझको प्रभो ! याद,
तब उनसे मुझे बचाने को मैं देता तुमको धन्यवाद !
बारह बज करके बीस मिनिट पर चालिस का हूँ हुआ आज !

[३]

बिहटा वाली गाड़ी में जा नहीं रहा था कलकत्ता,
औ मानसिंह ने मुझे लूट नहिं छीना था कपड़ा-लत्ता।
वरुणा के पुल के पास न था मेरा अपना कोई मकान,
मैं था बिहार में नहीं, वहाँ भूकम्प हुआ था जब महान।
फौजी लॉरी से दबा नहीं, टॉमी की खायी है न लात,
भाँड़ों ने फबती कसी नहीं मुझ पर ले मेरी कोई बात।
सट्टे में खोकर रोने को मुझ पर रुपया है हुआ नहीं,
'वैकेन्सी कोई यहाँ नहीं' सुनने न कभी हूँ गया कहीं।

तिरासी

सौ देकर छः सौ पाने पर भी रखते अपना कर्जदार—
उन लालाजी से है न लिया अब तक मैंने पैसा उधार।
मोटरावन और भुसावन मुझसे पा न सका है ज़मींदार,
झूठी न गवाही दिला सका मुझसे थाने का जमादार।
इन सब भीषण विपत्तियों की जब आती मुझको प्रभो! याद
तब उनसे मुझे बचाने को देता हूँ शतशः धन्यवाद।
बारह बज करके बीस मिनिट पर चालिस का हूँ हुआ आज!

[४]

बलिया में पैदा हुआ नहीं, भोंगाव न है मेरा मकान,
कुर्सी, शिकारपुर के अब तक मैंने केवल हैं सुने नाम।
बी० ए० में पढ़नी पड़ी नहीं मुझको कविता छायावादी,
औ प्रगतिशीलता की मुझ पर न कभी लद पायी है लादी।
है समालोचना लिखी नहीं मेरी श्री नन्ददुलारे ने,
अपने युग में रक्खा न मुझे श्री भार्गव लाल दुलारे ने।
पंडित बनारसी चौबे ने प्रपगंडा मेरा किया नहीं,
औ स्टारचंद ने हिन्दुस्तानी की संस्था में है लिया नहीं।
औ आल इंडिया रडियो ने मुझको न दिया है आमंत्रण,
मुझको सुनना है पड़ा नहीं मंत्रीजी का भीषण भाषण!
इन सब भीषण विपत्तियों की जब आती मुझको प्रभो! याद
तब उनसे रक्षा करने को गद्गद् हो देता धन्यवाद!
बारह बज करके बीस मिनिट पर चालिस का हूँ हुआ आज!

रघुपति सहाय के लिए आल्हा

श्री रघुपति सहाय फिराक आधुनिक हिंदी कविता के बड़े प्रशंसक नहीं हैं। एक बार आधुनिक हिंदी कविता को लेकर उनसे और निरालाजी से कुछ विवाद छिड़ गया। उन दिनों प्रयाग से 'तरुण' नाम का एक अल्पायु मासिक पत्र निकला था जिसमें फिराक साहब ने निरालाजी को सम्बोधित करके अवधी भाषा में एक आल्हा लिखा जिसमें उनकी कविता का काफी मजाक किया गया था। फिराक साहब हमारे भी मित्र हैं। निरालाजी भी हमारे मित्र थे। किंतु इस विवाद में हमारी सहानुभूति निरालाजी के साथ थी। उस आल्हा को पढ़कर, उसीकी भाषा में, यह छोटा सा आल्हा लिखा गया था।

रघुपति भैया ! पढ़ेउँ ध्यान दै, लिखेउ 'तरुन' माँ आल्हा जौन,
मसल फारसी* की सुधि कइकें चाहेंउँ रहि जावौं मैं मौन ।

सोचा मुदा†, परोफेसर हौ, रहत सदा तुम बँगलन बीच
बाबू लोगन के लेड़िकन कां रँगरेजी की देत हौ सीख ।‡

अउर मुसहरन§ माँ है द्याखा, गजलन कै प्याली छानें,
सेरन मां तौ करत रहत हौ, मासूकन की तुम बातें ।

हम तौ भैय्या ! देहाती हन, का समझी रँगरेजिहा रंग ?
हम तौ भैय्या ! रहि जाइत हैं तुमका देखि रामधै π दंग !

गाँवन माँ जो करैं लगी हम झूठेहुँ भय्या ! नकल तुम्हार,
नाम दफा दस माँ लिख जाई और परी घिलुआ माँ मार !

---

* 'जवाबे जाहिलाँ बाशद खमोशी'—जाहिल लोगों की बातों का सर्वोत्तम उत्तर चुप रहना है ।

† मुदा—किंतु

‡ फिराक साहब उन दिनों प्रयाग विश्वविद्यालय में अंग्रेजी के प्राध्यापक थे ।

§ मुशायरों

π राम की शपथ

निराला के प्रति

जब हिंदी और हिंदुस्तानी का विवाद जोरों पर था, निरालाजी को हिंदुस्तानी ज़बान में कविता लिखने का शौक पैदा हुआ, और उन्होंने तथाकथित 'हिंदुस्तानी' में कुछ कविताएँ लिखीं और उनका संग्रह 'कुकुरमुत्ता' के नाम से छपवा भी दिया। यदि वे और किसी समय हिंदुस्तानी' में कविता लिखते तो हम लोग ध्यान भी न देते, किंतु उस विवादपूर्ण वातावरण में उनके समान प्रांजल और संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लिखनेवाले एक शीर्षस्थ कवि का 'हिंदुस्तानी में लिखना हम लोगों को अच्छा नहीं लगा। ऐसा मालूम पड़ा कि जैसे हमारे दल का एक सेनानी शत्रु के शिविर में चला गया हो। किंतु निरालाजी सुहृद मित्रों में थे और उनसे संबंध इतनी आत्मीयता के थे कि खुलकर उनका विरोध करना भी संभव नहीं था। हम लोग जानते थे कि उनका हृदय कहाँ है, किंतु उस समय वे अपनी झोंक में एक धारा में बह गये थे। फिर भी आवश्यक था कि उन्हें यह बतला दिया जाय कि उनका यह हिंदुस्तानी-प्रेम हम लोगों को पसंद नहीं आया। अतएव यह 'कविता' लिखी गयी। इसमें निरालाजी के व्यक्तित्व की कम, किंतु कृतित्व की अधिक आलोचना है। यह उनका एक प्रकार का मूल्यांकन है। एक दिन हमने यह कविता उन्हें सुना भी दी। या तो एक मित्र की आलोचना का प्रभाव हो, या तब तक उनकी हिंदुस्तानी की झक ही समाप्त हो गयी हो, कुछ भी कारण हो, इसके बाद वे फिर प्रकृतस्थ होकर अपनी सामान्य भाषा में कविता लिखने लगे।

हे मुक्तकेशी !
हे अस्तव्यस्त वेशी !
वज्रघोष से हे प्रचण्ड आतंक जमाने वाले !
कविता-कामिनि को—
कठपुतली का सा नाच नचाने वाले !

हे निबंध !
छन्द, स्वच्छन्द
भाव की गुड़ी की डोर है तुमने दी ढील,
पर
हे कलाकार !
फिर भी तुम्हारी कृति के हैं दुरुस्त—
सब काँटे और कील।

हे उद्दाम !
जब चली वेगवती धार—
कविता की तुम्हारी,
तब
छन्दों के किनारों को,
तुकों की कगारों को
प्लावित कर,
तोड़ कर
फोड़ कर
पर्वत छन्द शास्त्र के,
निकली कविता की धार नये नये प्रान्त में।

तब नवीन दृश्य,
और नूतन वनस्पति,
नये नये पुष्प,

और नयी नयी कलिकाएँ
चित्रित लगी करने वह तूलिका तुम्हारी
जो आके पाणि पल्लव में
कुशल कलाकार के
हो गयी धन्य,
पा तुमसा न अन्य !

चकित रह गया,
स्तम्भित रह गया,
अवाक् रह गया
स्तब्ध रह गया सारा साहित्य-लोक,
यद्यपि कठिन था उसके लिए
सँभालना वह झोंक—
मौलिकता की,

प्रतिभा की,
कलाकार की कुलशता की।

कह उठी जनता
आ रोब में तुम्हारे तब,
'हिंदी का यही युगप्रवर्तक एक कवि है !'

छोड़ दी कगार,
और छोड़ा था किनारा भी,
किन्तु धरती तो थी वही बूढ़े भारत की।*
जल† भी पुनीत वही
जोकि संस्कृत-शिव-शैल की हिम की चट्टानों के गलने से बना था।
इससे ही
काव्य के भगीरथ !
तुम हिन्दी को दे सके--
'राम की शक्ति-पूजा'
'यमुना के प्रति'
और
अनुपम वह 'तुलसीदास,'
तथा
अन्य कितने गीत भी।

किंतु निर्बन्ध !
जब हुई तुम्हारी स्वच्छन्दता और भी स्वच्छन्द,
और पुण्यतोया धार में
तुमने मिलाया गन्दा नाला हिन्दुस्तानी का,
तबसे तुम हुए हो महान
'कुकुरमुत्ता' समान !

---

* भारतीय सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से तात्पर्य है।
† संस्कृतनिष्ठ हिंदी से तात्पर्य है।

श्रीविनोद शर्मा की मरम्मत

'छेड़छाड़' के प्रथम संस्करण में हमने 'एक अदबी खत' शीर्षक कविता छापी थी। उसमें पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी का एक चित्र भी दिया था। यह चित्र एक दिन हमारे एक परिचित सज्जन ने अचानक उस समय ले लिया था जब वे अंगौछा लपेट कर स्नान करने जा रहे थे। कविता छप गयी, और चित्र भी। दोनों ही की बड़ी चर्चा रही। उसके कुछ दिनों बाद वे आगरे आये। उन दिनों हम वहीं थे और कैम्प में ठहरे हुए थे। चतुर्वेदीजी को कुछ दिनों से फोटो का कैमरा रखने का शौक हो गया था, और वे जब हमसे मिलने आये तब केमरा उनके साथ था। संयोग की बात कि हम उस समय कैम्प के पाखाने से बाहर आये थे और धरती पर लोटा पटक कर, अपने पाजामा का कमरबंद कस रहे थे। उन्हें देखकर हम कुछ हँस भी दिये थे जिससे मुँह कुछ खुला हुआ था। चतुर चतुर्वेदीजी ने उसी समय हमारा एक 'स्नैपशॉट' ले लिया। किंतु हमें यह बात उस समय नहीं मालूम हुई। टीकमगढ़ लौटने पर उन्होंने 'स्नपशाट' को धुलवाकर चित्र तैयार किया, और वहाँसे हमें लिखा—"आपने 'छेड़छाड़' में हमारा एक चित्र छापकर उस पर कविता लिखी। हमने भी आपका एक चित्र ले लिया है जिसमें आप पाखाने से निकलकर अपनी सुथनी (चूड़ीदार पाजामा) बाँध रहे हैं। मैं भी उसे प्रकाशित कराऊँगा, किंतु खराबी यह है कि मैं आपकी तरह कविता नहीं कर सकता।" इस पत्र को पाकर हमने उन्हें लिखा—"आप चित्र मुझे भेज दें। मैं आपकी ओर से श्रीविनोद शर्मा पर कविता लिखकर उनकी काफी मरम्मत कर दूंगा।" चतुर्वेदीजी ने चित्र भेज दिया। उस पर हमने ये दोहे उनकी ओर से बनाकर भेज दिये, और लिख दिया कि "ये दोहे नमूने की तरह भेज रहा हूँ। यदि पसन्द हों तो और दोहे भेजूँ।" चतुर्वेदीजी इतने दोहों से ही संतुष्ट और प्रसन्न हो गये। उन्होंने हमें इनके लिए धन्यवाद दिया तथा और अधिक दोहों की आवश्यकता नहीं समझी। हमारे देखने में नहीं आया कि उन्होंने ये दोहे कहीं प्रकाशित किये हों। किंतु चूंकि कविता इस पुस्तक में छपी है, हमने उचित समझा कि उसका यह उपसंहार भी इस परिवर्द्धित संस्करण में सम्मिलित कर दिया जाय।

घासलेट के बाप कों देखि गयौ घबराय
पाजामा ढीलौ भयो श्रीविनोद कौ हाय !

लुटिया में पानी रह्यौ चिल्लू भर हू नाहिं,
है कछु हू सूझत नहीं—कहा करैं, कित जाहिं ?

लोटा धरि, सुथना कसत, रहे खड़े मुँह बाय,
यह बानक मो मन बसौ श्रीविनोद कौ आय ।

श्री बनारसीदास कौ कैसौ सच्चौ 'शॉट' ।
श्रीविनोदजी सके नहिं नेकहु काबा काटि ।

फँसे बहुत दिन में बुरे श्रीविनोद असहाय,
चौबेजी के जाल में मगर फँस्यौ है आय !

ਦਲੀਪ ਸਿੰਘ ਮਨਹਾਸ

ਸ੍ਰੀ ਮਰਚੰਗੀ (ਸ਼ੌਂਕ)

ਨਾਗਿਆਲ ਕੋਠੇ ਨੂੰ ਲ

(ਜੰਮੂ)

ਦਲੀਪ
6/12/83